T.R.N.UPMUL 00599 ISSN 2277-5854

श्रीविद्यामन्त्रमहायोग

(आगमतन्त्र की शोधपत्रिका)

(षाण्मासिकी)

संस्थापक सम्पादक
श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ जी
(सीताराम कविराज)

सम्पादक मण्डल
प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठी
सम्मानित आचार्य, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रो. श्रीकिशोर मिश्र
संस्कृत विभाग, कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा
दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर

श्रीविद्यासाधनापीठ

वाराणसी (उ.प्र.)

वर्ष २ अङ्क २

श्रीविद्या साधना पीठ शिवसदन गणेश बाग, नगवा, वाराणसी के लिये प्रकाशानन्दनाथ द्वारा श्रीविद्या साधना पीठ, शिवसदन, गणेश बाग, नगवा, वाराणसी से प्रकाशित एवं स्टार लाईन भवन संख्या बी १३/९० सोनारपुरा, वाराणसी से मुद्रित।

फरवरी, २०१३

सम्पादक :
प्रो. श्रीकिशोर मिश्र

प्राप्तिस्थान
प्रकाशन विभाग
श्रीविद्यासाधनापीठ
शिवसदन, गणेशबाग, नगवाँ, वाराणसी
दूरभाष : ०५४२-२३६६६२२

T.R.No. UPMUL 00599
ISSN. 2277-5854

सङ्गणकटङ्कित :
विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर

मुद्रक :
स्टार लाईन
सोनारपुरा, वाराणसी।

मूल्य : १२५/-

नोट : इस अंक में प्रकाशित समस्त लेखों के सम्बन्ध सभी विवाद वाराणसी न्यायालय के अधीन होंगे।

T.R.N.UPMUL 00599 ISSN 2277-5854

ŚRĪVIDYĀ MANTRAMAHĀYOGA

Āgamic-Tāntric Research Journal

(Bi-annual)

Founder-Editor

Sri Dattātreyānandanāth

(Sitaram Kaviraj)

Editorial Board

Prof. Kamaleshdatta Tripathi

Emeritus Professor, Faculty of S.V.D.V.
BHU, Varanasi-5

Prof. Shree Kishore Mishra

Department of Sanskrit, Faculty of Arts,
BHU, Varanasi-5

Dr. Rajendra Prasad Sharma

Department of Philosophy,
University of Rajasthan, Jaipur.

ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA

Varanasi (U.P.)

वर्ष २ अङ्क २

Printed and Published by Prakashanand Nath on behalf of Shree Vidya Sadhna Peeth, Shivsadan Ganesh Bagh, Nagwa, Vananasi.
Printed at Starline, H. No.-B-13/90, Sonarpura, Varanasi and Published at Shree Vidya Sadhna Peet, Shivsadan, Ganesh Bagh, Nanwa, Varanasi.

February , 2013

Editor :
Prof. Shrikishore Mishra

Publications are available at :
Publications Department
ŚRĪVIDYĀ SĀDHANĀ PĪTHA
Shiv Sadan, Nagawa, Varanasi-221005
Ph. 0542-2366622

T.R.No. UPMUL 00599
ISSN. 2277-5854

Type Setting :
Vishal Computers, Jaipur.

Printer :
Starline, Sonarpura, Varanasi

Price : 125/-

Note : Any dispute arising on articles published in this issue shat be decided under the jurisdiction of Varanasi Court only.

विषय–सूची

	सम्पादकीय	प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठी	i-ii

शोधलेख

१.	श्री शिव तत्त्व रहस्य	पूज्यपाद ब्रह्मलीन अनन्तश्री स्वामी करपात्री जी महाराज	१–९
२.	त्रिपुरा रहस्य परिचय	महामहोपाध्याय पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी	१०–२१
३.	अजपा–साधन–रहस्य	महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ जी कविराज	२२–३५
४.	सात्म्येन्द्रिय व्यवहार योग से आरोग्य	डॉ. कमलाकान्त त्रिपाठी	३६–४३
५.	आचार्य शङ्कर का तान्त्रिक कृतित्व	आचार्य नटवरलाल जोशी	४४–४७
६.	भगवती ललिता के परम उपासक सार्वभौम सिद्ध मनीषी आचार्य शङ्कर	डॉ. आशीष कुमार जोशी	४८–५२
७.	तन्त्रशास्त्र : सिद्धान्त और साधना	देवर्षि कलानाथ शास्त्री	५३–५८
८.	शक्तिपीठों की देह में भावस्थिति	प्रो. श्री किशोर मिश्र 'यागानन्दनाथ'	५९–६२
९.	श्रीविद्या साधना एवं स्त्री की देवीरूपता	प्रो. कमल किशोर भारद्वाज 'कमलरुद्रदेवानन्दनाथ'	६३–६६
१०.	सच्चिन्मय: शिव: साक्षात् तस्यानन्दमयी शिवा	आशुतोष जोशी	६७–७०

११.	गुरु तत्त्व विमर्श : शास्त्र दृष्टि	पुष्पा त्रिपाठी	७१–७५
१२.	शाक्तागम की दृष्टि में सृष्टि प्रक्रिया	डॉ. त्रिपुरसुन्दरी	७६–७८
१३.	आगमपरम्परा में गीतादर्शन का वैशिष्ट्य एवं साम्प्रतिकोपादेयता	विद्यावाचस्पति डॉ. रामजीवन मिश्र	७९–८९
१४.	श्रीकृष्णप्रोक्ता गीता चतुष्टयी में सार्वकालिक नैतिक चिन्तन	डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा 'शिवानन्दनाथ'	९०–१०२
१ ५.	श्रीविद्यासाधनापीठ, वाराणसी का परिचय		१०३
१ ६.	श्रीविद्यासाधनापीठ की प्रकाशित ग्रन्थों की सूची		१०४

सम्पादकीय

श्रीविद्यामन्त्रमहायोग का नवीन अङ्क प्रस्तुत है। इसमें सर्वप्रथम पूज्यपाद ब्रह्मलीन अनन्त श्रीकरपात्री जी महाराज का 'श्री शिव तत्त्व रहस्य' नामक निबन्ध संगृहीत है, जिसमें शिव का ईश्वरत्व वैदिक प्रमाणों से सिद्ध किया है। त्रिदेवों में संहारक शिव की महती भूमिका तथा शिव की ब्रह्मा एवं विष्णु से अभिन्नता को तार्किक आधार पर सुपुष्ट किया है।

'त्रिपुरा रहस्य' की भूमिका के रूप में महामहोपाध्याय पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने आगम एवं निगम के दार्शनिक भेद को सुस्पष्ट करते हुए शक्ति तत्त्व की परमोच्चता को सप्रमाण साधित किया है। षोडशकला परिपूर्णा भगवती त्रिपुरा सुन्दरी की महिमा तथा तात्त्विक विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए श्रीविद्या की ऐतिहासिक कथा तथा साधना परम्परा का संक्षिप्त पौराणिक विवरण आगमिक आधार पर वर्णित किया है।

'अजपा साधन रहस्य' नामक विस्तृत निबन्ध में पूज्य महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ कविराज ने अजपा के शास्त्रीय स्वरूप तथा साधकों के लिए परमोपयोगी गुप्त रहस्यों को प्रकट किया है। षट्चक्र भेदन एवं ग्रन्थित्रय का परम रहस्य व्यावहारिक दृष्टि से सुस्पष्ट किया है।

'सात्म्येन्द्रिय व्यवहार योग से आरोग्य' लेख में विद्वान् लेखक डॉ. कमलाकान्त त्रिपाठी ने रोग के उत्पादक कारण असात्म्येन्द्रिय व्यवहार की योगशास्त्रीय मीमांसा प्रस्तुत की है। सात्म्येन्द्रियव्यवहार से साधक जीवनपर्यन्त नीरोग रह सकते हैं। आचार्य नटवरलाल जोशी ने अपने लेख में आचार्य शङ्कर की तान्त्रिक कृतियों की समीक्षा करते हुए श्रीविद्या के वैदिक स्रोत तथा आगमिक विधानों का साङ्केतिक रूप में परिचय दिया है। डॉ. आशीष कुमार जोशी ने अपने निबन्ध में आचार्य शङ्कर की दिव्य मनीषा तथा कृतित्व के उत्तम अवदान तथा चरित्र की उत्कृष्टता को वैदुष्यपूर्ण अध्ययन से सुस्पष्ट किया है।

प्रख्यात समीक्षक देवर्षि कलानाथ शास्त्री ने तन्त्रशास्त्र के रहस्यात्मक सिद्धान्तों और साधनाओं का वैज्ञानिक आधार विवेचित किया है। प्रो. किशोर मिश्र ने ५१ शक्ति पीठों को न्यासों के द्वारा साधक के देह में स्थापित करने की आगमिक साधना के रहस्य का अनावृत्त किया है। श्रीविद्या साधना में स्त्री की देवीरूपता

को धर्मशास्त्रीय आधार पर विवेचित करने के प्रयास प्रो. कमलकिशोर भारद्वाज ने अपने महत्त्वपूर्ण शोध लेख के द्वारा प्रस्तुत किया है। आशुतोष जोशी ने अपने शोधपूर्ण लेख में शिवशक्ति के सामरस्य को रेखाङ्कित करते हुए इनके ऐक्य के शास्त्रीय आधार का प्रतिपादन किया है। डॉ. पुष्पा त्रिपाठी ने अपने महत्त्वपूर्ण लेख में गुरु तथा शिष्य के लक्षणों की शास्त्रीय परीक्षा प्रस्तुत की है। डॉ. त्रिपुरसुन्दरी ने शाक्तागम की दृष्टि में सृष्टि प्रक्रिया की प्रक्रिया सुस्पष्ट की है।

विद्यावाचस्पति डॉ. रामजीवन मिश्र ने गीता के वैशिष्ट्य और वर्तमान प्रासङ्गिकता को विविध उदाहरणों से प्रतिष्ठापित किया है। वर्तमान वैश्विक समस्याओं का समाधान गीता के विवेचन से सुसिद्ध होता है। डॉ. राजेन्द्रप्रसाद शर्मा ने भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा उपदिष्ट गीता चतुष्टयी के विवेचन के आधार पर गीता के दिव्य नैतिक दर्शन की सार्वभौमिकता एवं सार्वकालिकता को सिद्ध किया है। श्रीकृष्ण की नीतियाँ ही विश्व के मानव मात्र के लिए सफलता, शान्ति एवं समस्त लौकिक एवं पारलौकिक समस्याओं के समाधान का मार्ग प्रस्तुत करती है।

यह अङ्क न केवल महत्त्वपूर्ण पूर्वप्रकाशित सामग्री को साधकों के लिए उपलब्ध कराता है अपितु नई रचनाओं के द्वारा तन्त्रशास्त्र की उपादेयता पर विचार करता है। हमें विश्वास है कि साधकवर्ग में इस अङ्क का भी यथापूर्व स्वागत होगा और यह उनके लिए उपयोगी होगा।

श्रीविद्यामन्त्रमहायोग का आगामी अङ्क करपात्र स्वामी जी की जयन्ती के शुभ अवसर पर अगस्त मास मास में प्रकाशित होगा। अत: शास्त्र साधना के क्षेत्र में रत सुधी विद्वज्जनों से विनम्र अनुरोध है कि उक्त पत्रिका में प्रकाशनार्थ श्रीविद्या, तन्त्र आगम आदि विषयों से सम्बद्ध वैदुष्यपूर्ण शोध लेख श्रीविद्यासाधना पीठ के पते पर प्रेषित कर पत्रिका के पल्लवन एवं उन्नयन में अपना अमूल्य सहयोग प्रदान करने की कृपा करें।

— प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठी
सम्मानित आचार्य
संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकायकाशी हिन्दू
विश्वविद्यालय, वाराणसी।

श्री शिवतत्त्व रहस्य

पूज्यपाद ब्रह्मलीन अनन्त श्री स्वामी करपात्री जी महाराज

शिव वही तत्त्व है जो समस्त प्राणियों के विश्राम का स्थान है। '**शीङ् स्वप्ने**' धातु से 'शिव' शब्द की सिद्धि है। '**शेरते प्राणिनो यत्र स शिव:**' —अनन्त पापतापों से उद्विग्न होकर विश्राम के लिए प्राणी जहाँ शयन करे, बस उसी सर्वाधिष्ठान सर्वाश्रय को शिव कहा जाता है। वैसे तो—

शान्तं शिवं चतुर्थमद्वैतं मन्यन्ते।

इत्यादि श्रुतियों के अनुसार जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं से रहित, सर्वदृश्य विवर्जित, स्वप्रकाश, सच्चिदानन्दघन परब्रह्म ही शिवतत्त्व है, फिर भी वही परमतत्त्व अपनी दिव्य शक्तियों से युक्त होकर अनन्त ब्रह्माण्डों का उत्पादन, पालन एवं संहार करते हुए ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि संज्ञाओं को धारण करते हैं। यद्यपि कहीं ब्रह्मा जीव भी कहा जाता है। '**सोऽबिभेत् एकाकी न रेमे जाया मे स्यादथ कर्म कुर्वीय**' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार भय, अरमण आदि युक्त होने से हिरण्यगर्भ एवं विराट् को जीव ही कहा गया है, तथापि वह एक-एक ब्रह्माण्ड के उत्पादक मुख्य ब्रह्मादि के साथ तादात्म्याभिमानी जीव ब्रह्मा कहा जाता है। वास्तव में तो जैसे किसान ही क्षेत्र में बीज बोकर अङ्कुरादि रूप में उत्पादक होता है, वही सिञ्चनादि द्वारा पालक और अन्त में वही काटने वाला होता है, वैसे ही एक ही अनन्त अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न भगवान् विश्व के उत्पादक, पालक और संहारक होते हैं।

सर्वभूतेषु कौन्तेय मूर्त्तय: सम्भवन्ति या:।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रद: पिता।।

भगवान् का कहना है कि समस्त भूतों में जितनी भी मूर्त्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उन सबकी महद् ब्रह्म (प्रकृति) योनि (माता) है और बीज प्रदान करने वाला पिता मैं हूँ। '**पिताऽहमस्य जगत:**' मैं ही समस्त जगत् का पिता—उत्पादक—हूँ।

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भव: सर्वभूतानां ततो भवति भारत।।

अर्थात् प्रकृति रूप योनि में जब मैं गर्भाधान करता हूँ, तब उससे समस्त विश्व की उत्पत्ति होती है। इस तरह ब्रह्माण्डोत्पादक ब्रह्मा भी परमेश्वर ही है, अतएव—

'**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति**' इस श्रुति से जो ब्रह्म का लक्षण कहा गया है, उससे विश्व के उत्पादक, पालक एवं संहारक को परमेश्वर समझना चाहिए। यदि यह तीनों पृथक् पृथक् हों, तब तो कोई भी परमेश्वर नहीं सिद्ध हो सकेगा। क्योंकि निरतिशय ऐश्वर्य और सर्वज्ञ-गुण सम्पन्न को परमेश्वर कहा जाता है। यदि यह तीनों ही सर्वशक्ति सम्पन्न परमेश्वर हैं, तो यह प्रश्न होगा कि यह तीनों मिलकर सलाह से कार्य करते हैं या स्वतन्त्रता से अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार? यदि सलाह से ही करते हैं तो यह माना जाए, तब तो इनमें परमेश्वर कोई भी न हुआ। किन्तु, इन तीनों की पर्षद या पञ्चायत ही परमेश्वर है, क्योंकि अकेले कोई भी कार्य करने में स्वतन्त्र नहीं है। यदि तीनों की इच्छा समान ही होती है और तीनों की इच्छानुसार ही उनकी शक्तियाँ कार्य में प्रवृत्त होती हैं, तब भी तीन का मानना ही व्यर्थ है। फिर तो एक से भी वह सब कार्य सम्पन्न ही हो सकता है। यदि द्वितीय पक्ष स्वीकार किया जाए अर्थात् स्वतन्त्रता से भी तीनों कार्य कर सकते हैं, तब भी इनमें कोई भी परमेश्वर नहीं सिद्ध होगा, क्योंकि स्वतन्त्रता से यदि इच्छा उत्पन्न होगी, तो सम्भव है कि जिस समय एक को जगत्पालन की रुचि हुई, उसी समय दूसरे को संहार की रुचि उत्पन्न हो। अब यहाँ जिसकी इच्छा सफल होगी, उसी का निरङ्कुश ऐश्वर्य समझा जाएगा। जिसका मनोरथ भग्न हुआ, उसकी ईश्वरता औपचारिक ही रहेगी। एक विषय में विरुद्ध दो प्रकार की इच्छाओं का सफल होना असम्भव ही है। इस तरह अनेक ईश्वर का होना किसी के भी मत में कथमपि सम्भव नहीं, अतः एकेश्वरवाद ही सबको मानना पड़ता है। इसीलिए महानुभावों ने एक ही में अवस्था भेद से उत्पादकत्व, पालकत्व और संहारकत्व माना है।

निःश्वसितमस्य वेदा वीक्षितमेतस्य पञ्चभूतानि।
स्मितमेतस्य चराचरमस्य च सुप्तं महाप्रलयः।।

भगवान् के निःश्वास से ही वेदों का प्रादुर्भाव हो जाता है। वीक्षण (देखने) से आकाशादि अपञ्चीकृत पञ्च महाभूत की सृष्टि होती है। स्मित (मन्दहास, मुस्कराहट) से भौतिक अनन्त ब्रह्माण्ड बन जाते हैं और सुप्ति से ही निखिल ब्रह्माण्ड का प्रलय हो जाता है। इस दृष्टि से एक ब्रह्माण्ड के उत्पादक, पालक, संहारक ब्रह्मा, विष्णु, शिव के अतिरिक्त निखिल ब्रह्माण्ड के उत्पादक, पालक, संहारक ब्रह्मा, विष्णु और शिव में किञ्चिन्मात्र भी भेद नहीं है। जैसे एक ही गगनस्थ सूर्य अनन्त घटोदकों और तड़ागोदकों में प्रतिबिम्बित होता है, वैसे ही एक ही अखण्ड, अनन्त, निर्विकार चिदानन्द परमात्म तत्त्व अनन्त अन्तःकरणों और मायाभेदों में प्रतिबिम्बित होते हैं। अन्तःकरणगत प्रतिबिम्ब ही जीव कहलाते हैं। मायागत प्रतिबिम्ब ही ईश्वर कहलाते हैं। जैसे अन्तःकरण के स्वच्छत्वादि तारतम्य से जीवों में काल्पनिक भेद होता है, वैसे ही माया की उत्पादकत्व, पालकत्व, संहारकत्व शक्ति के भेद से ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र में काल्पनिक भेद होता है। अनन्त ब्रह्माण्ड की कल्पना में अनन्त ब्रह्माण्ड की उत्पादिनी शक्तियाँ भी अनन्त हैं। उन एक-एक शक्तियों, अनन्त अन्तःकरण और उत्पादकत्व, पालकत्व, संहारकत्व शक्ति से युक्त माया है। इस तरह एक-एक शक्ति से ब्रह्माण्ड और उसके अन्तर्गत अनन्त जीव एवं उत्पादक, पालक, संहारक ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र व्यक्त होते हैं। परन्तु इन सभी

प्रतिबिम्बों का मूलभूत जो बिम्ब है, वह तो सर्वथा एक ही है। वही विष्णु भक्तों को विष्णु रूप से, राम भक्तों को राम रूप से, शिव भक्तों को शिव स्वरूप से दृष्टिगोचर होता है। जैसे एक ही गगनस्थ सूर्य नीले चश्मे से नीला, पीले से पीला दिखलायी देता है, वैसे ही विष्णु भावना से भावित अन्तःकरण विष्णु भक्त उसी परम तत्त्व को विष्णु कहते हैं, शिव भावना से भावित मनस्क उसी परम तत्त्व को शिव कहते हैं और वही श्रीकृष्ण, श्रीराम आदि रूप में उपलब्ध होता है। वही गगनस्थ सूर्य स्थानीय परम तत्त्व '*शिवस्कन्दादि*' पुराण का शिव है, वही *विष्णु पुराण, रामायण, भागवत* आदि सद्ग्रन्थों में विष्णु, राम, कृष्ण रूप में गाया गया है। भक्त की भावनानुसार ही उस परम तत्त्व की ही विशुद्ध सत्त्वमयी दिव्य शक्ति के योग से मधुर मनोहर मूर्ति भी व्यक्त होती है। इस तरह मूलत: शिव एवं विष्णु एक ही हैं, फिर भी उनके अपर रूप में सत्त्व के योग से विष्णु को सात्त्विक और तम के योग से रुद्र को तामस कहा जाता है। वस्तुत: सत्त्व नियन्ता विष्णु और तम नियन्ता रुद्र हैं। तम ही मृत्यु है, काल है, अत: उसके नियन्ता महामृत्युञ्जय महाकालेश्वर भगवान् रुद्र हैं। दूसरी दृष्टि से भी जैसे तम: प्रधान, सुषुप्ति से ही जागर, स्वप्न की सृष्टि होती है, वैसे ही तम: प्रधान प्रलयावस्था से ही सर्व प्रपञ्च की सृष्टि होती है।

कृष्ण के अनन्य प्रेमी भक्तगण तम को बहुत ऊँचा किंवा सबसे उत्कृष्ट मानते हैं। प्रेममयी आसक्ति मोह, मूर्च्छा, सात्त्विक विवेक, प्रकाश से कहीं अधिक महत्त्व की होती है। वास्तव में किसी भी कार्य में अवष्टम्भ (रुकावट) प्रकाश और हलचल की अपेक्षा होती है। तीनों में से एक के बिना भी कार्य नहीं होता। प्राकृत या अप्राकृत दिव्य से दिव्य कार्यों में भी अवष्टम्भ की अपेक्षा होती है, वही दिव्य अवष्टम्भ तम है। इसी तामस एवं तामसतामस भावना का अत्यन्त महत्त्व माना जाता है। *श्रीभागवत* का तामस फल प्रकरण सर्वापेक्षया अपना अधिक महत्त्व रखता है। वैसे भी विश्राम के लिए तामस सुषुप्ति की ऐसी महिमा है कि इन्द्रादि दिव्य भोग सामग्री सम्पन्न होकर भी उसे छोड़कर सुषुप्ति चाहते हैं। चिन्तन, मनन सात्त्विक होने पर भी सुषुप्ति का प्रतिबन्धक होने से उद्वेजक समझा जाता है। जब जागरादि अवस्था में द्वैत दर्शन से जीव उद्विग्न हो उठता है, तब उसे विश्राम के लिए सुषुप्ति का आश्रयण अनिवार्य हो जाता है। वैसे ही जब सृष्टिकाल के उपद्रवों से जीव व्याकुल हो जाता है, तब उसको दीर्घ सुषुप्ति में विश्राम के लिए भगवान् सर्वसंहार करके प्रलयावस्था व्यक्त करते हैं।

यह संहार भी भगवान् की कृपा ही है, जैसे दुश्चिकित्स्य व्रण से व्याकुल को देखकर चिकित्सक करुणा से हो व्रण छेदन के लिए तीक्ष्ण शस्त्र को ग्रहण करता है, वैसे ही दुर्निवार्य पाप ताप के बढ़ जाने पर करुणा से ही भगवान् विश्व का संहार करते हैं—

जिमि शिशु तनु व्रण होई गुसाईं।
मातु चिराव कठिन की नाईं।।

कार्यावस्था से कारणावस्था का महत्त्व स्पष्ट ही है। तम: प्रधानावस्था है, उसी से उत्पादनावस्था और पालनावस्था व्यक्त होती है। अन्त में फिर भी सबको प्रलयावस्था में जाना पड़ता है—

भूतग्राम: स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।

अर्थात् यह समस्त भूतग्राम अनन्त काल से उत्पन्न हो-हो कर पुन: पुन: प्रलयावस्था को प्राप्त होता है। कारण से ही सबकी उत्पत्ति और उसी में पालन और पुन: उसी में सबका संहार होता है। नि:स्तब्ध समुद्र से ही तरङ्ग की उत्पत्ति, उसी में उसका पालन, अन्त में फिर भी उसी में संहार होता है। उत्पादनावस्था के नियामक ब्रह्मा, पालनावस्था के नियामक विष्णु और संहारावस्था एवं कारणावस्था के नियामक शिव हैं। पहले भी कारणावस्था रहती है, अन्त में भी वही रहती है। इस तरह प्रथम भी शिव ही, अन्त में भी शिव ही तत्त्व अवशिष्ट रहता है—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत्सदसत्परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्।।

तत्त्वज्ञ लोग उसी में आत्म भाव करते हैं, जो चराचर प्रपञ्च की उत्पत्ति के पहले होता है। उसकी महिमा और वीर्यवत्ता प्रसिद्ध ही है। अत: वही मुख्य निरुपचरित ईश्वर या महेश्वर होता है।

अत: शिवजी ही केवल ईश्वर शब्द से कहे जाते हैं—

१. ईशान: सर्वविद्यानामीश्वर: सर्वभूतानाम्।
२. महेश्वरस्त्र्यम्बक एव नापर:।
३. ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

अर्थात् ईशान ही सर्वविद्याओं एवं भूतों के ईश्वर हैं, वही महेश्वर हैं, वही सर्व प्राणियों के हृदय में रहते हैं। हृदय में ही सुषुप्ति होती है, वहीं कारणावस्था के अधिपति का होना युक्त भी है। कहीं उपनिषदों में एकादश प्राणों को 'रुद्र' कहा गया है। वे निकलने पर प्राणियों को रुलाते हैं, इसलिए रुद्र कहे जाते हैं। अत: दस इन्द्रियाँ और मन ही एकादश रुद्र हैं। परन्तु, ये आध्यात्मिक रुद्र हैं। आधिदैविक एवं सर्वोपाधिविनिर्मुक्त रुद्र इनसे पृथक् हैं। जैसे विष्णु पाद के अधिष्ठाता हैं, वैसे ही रुद्र अहङ्कार के अधिष्ठाता हैं—

एको रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे।

अर्थात् एक रुद्र ही तत्त्व था, द्वित्वसंख्यापूर्त्यर्थ कोई दूसरा तत्त्व ही न था। इन श्रुतियों से प्रोक्त रुद्र तो महाकारण या कार्यकारणातीत शुद्ध ब्रह्म ही है। यह भी 'रोदनात् रुद्र' है, प्रलय काल में सबको रुलाने वाले यही हैं।

यस्य ब्रह्म च क्षत्रञ्चोभे भवत ओदन:।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र स:।।

अर्थात् ब्रह्मक्षत्रोपलक्षित समस्त प्रपञ्च जिसका ओदन (भात) है, मृत्यु जिसका उपसेचन (दूध, दही, दाल या कढ़ी) है, उसे कौन, कैसे, कहाँ जाने? जैसे प्राणी कढ़ी, भात मिलाकर खा लेता है, बस विश्व संहारक काल और समस्त प्रपञ्च को मिलाकर खाने वाला परमात्मा मृत्यु का भी मृत्यु है, अत: महामृत्युञ्जय है, काल का भी काल है, अत: कालकाल या महाकालेश्वर है। यदि कोई भी बच जाए, तब तो उसकी सर्वसंहारकता में बाधा उपस्थित होती है, अतएव **योऽवशिष्येत** वही एक ब्रह्म है। इसीलिए विष्णु भी वही है, यदि वे शिव या रुद्र से पृथक् होंगे, तब महामृत्युञ्जय, महाकालेश्वर, सर्वसंहारक से संहृत हो जाएंगे, अन्यथा एक को छोड़कर सर्व की संहारकता ही शिव में समझी जाएगी। सर्वसंहर्त्ता के सामने दूसरी जो भी चीज उपस्थित होगी, वह उसका अवश्य संहार करेगा। अत: यदि कोई बचेगा तो उसका आत्मा ही बचेगा, क्योंकि अपने में संहार्य-संहारक भाव नहीं बनता। इसीलिए शिव की आत्मा विष्णु और विष्णु की आत्मा शिव है। वहाँ भिन्नता है ही नहीं, जिससे परसमवेत क्रियाशालित्व रूप कर्मत्व का योग हो। सर्वसंहारक में ही निरतिशय प्राबल्य एवं परमेश्वरत्व, सर्वोत्कृष्टत्व सिद्ध होता है। शेष जो भी उससे भिन्न अवशिष्ट होते हैं, उन सबका संहार हो जाता है। अत: उनका अनीश्वरत्व, निकृष्टत्व, विधेयत्व, तद्वशवर्तित्व सुतरां सिद्ध होता है।

जो परमेश्वर भक्तों, प्रेमियों और ज्ञानियों के निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेम के आस्पद होते हैं और परमानन्द रसरूप होते हैं, वही अभक्तों के लिए प्रचण्ड मृत्यु रूप होकर उपलब्ध होते हैं और उनसे सब भयभीत होते हैं। संहारक और शासक से सबको भय होना स्वाभाविक है। इसीलिए कहा गया है कि **महद्भयं वज्रमुद्यतम्।** अर्थात् परमेश्वर उद्यत वज्र के समान महाभयानक है। उसी के भय से सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, इन्द्र नियम से अपने-अपने काम में लगे हैं। उसी के भय से मृत्यु भी दौड़ रही है—

भीषाऽस्माद्वात: पवते भीषोदेति सूर्य्य:।
भीषाऽग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चम:।।

यही प्रचण्ड कोप रूप भी है, कोप का कार्य मृत्यु है। फिर जो मृत्यु का भी मृत्यु है उसकी कोप रूपता में क्या सन्देह है? सर्वसंहारक प्रचण्ड उग्र शासक परमात्मा ही ईश्वर, ईशान, भीम, उग्र, रुद्र, चण्ड एवं चण्डिका आदि शब्दों से व्यवहृत होता है।

वेदान्त की दृष्टि से अज्ञानी लोग सर्वविध भेदशून्य, स्वप्रकाश, अद्वैत ब्रह्म से डरते हैं—

योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिन:।

जैसे नीम के कीड़े को सिता शर्करा से उद्वेग होता है, वैसे ही सप्रपञ्च द्वैत सुख के कीट अज्ञानियों को निष्प्रपञ्च अद्वैत सुख से भय होता है, क्योंकि उनके अभिलषित वादित्र, नृत्य गीतादि द्वैत सुख का वहाँ अत्यन्ताभाव होता है। परन्तु, ज्ञानियों को तो वही परमानन्द रसरूप है। इस तरह अज्ञानियों को उद्वेजक होता हुआ भी वह तत्त्व ज्ञानियों को परमरसामृत रूप होकर प्रकट होता है।

विवेकियों की दृष्टि में प्रमाद ही मृत्यु है—

प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि।

उन समस्त प्रमादों की जड़ मोह या अज्ञान ही है और उसका अन्त करने वाला ब्रह्माकारा चरम वृत्ति पर आरूढ़ शुद्ध ब्रह्म ही है। इस तरह मृत्यु रूप अज्ञान का नाशक होने से सर्वसंहारक महामृत्युञ्जय महाकालेश्वर परम तत्त्व शिव ही है। वे ही लीलया दिव्य मङ्गलमयी मूर्ति धारण करते हैं, भक्तों की अपनी उपासना में चावपूर्वक प्रवृत्ति देख, कुतूहलवशात् स्वयं भी भक्ति रस का आस्वादन करने के लिए अपने आपको उपास्य-उपासक दो रूप में व्यक्त करते हैं। बाल रामचन्द्र, बाल मुकुन्द रूप से निज हस्तारविन्द के अङ्गुष्ठ को मुखारविन्द में विनिवेशित कर चरणारविन्द मकरन्द लुब्ध भावुक मनोमिलिन्दों के लोकोत्तर सौभाग्य को समझकर स्वयं भी भक्त होकर श्रीशिव की उपासना करते हैं और शिव जी के रूप में होकर विष्णु रूप की उपासना करते हैं। शिव के हृदय में राम, राम के हृदय में शिव हैं। साम्राज्यसिंहासनसमासीन भगवान् राम के हृदय कमल में अभिव्यक्त श्रीशिव का प्रत्यक्ष दर्शन महर्षियों ने किया और शिव के हृदय में राम के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। इस तरह '**सेवक स्वामि सखा सिय पिय के**' शिव सर्वाराध्य परम दैवत हैं।

श्रीकृष्ण ने उपमन्यु महर्षि से दीक्षित होकर भगवान् अम्बासहित श्रीशिव की आराधना करके दिव्य वर प्राप्त किया था। धर्मराज युधिष्ठिर ने जब भीष्म जी से शिव तत्त्व के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तब उन्होंने अपनी असमर्थता प्रकट करके कहा कि "श्रीकृष्ण उनकी कृपा के पात्र हैं, उनकी महिमा को जानते हैं और वही कुछ वर्णन भी कर सकते हैं।" युधिष्ठिर के प्रश्न से श्रीकृष्ण ने शान्त, समाहित होकर यही कहा कि, "भगवान् की महिमा तो अनन्त है, तथापि उन्हीं की कृपा से उनकी महिमा को अतिसङ्क्षेप में कहता हूँ।" यह कहकर बड़ी ही श्रद्धा से उन्होंने शिव-महिमा का गायन किया। विष्णु भगवान् ने तो अपने नेत्रकमल से भगवान् की पूजा की है। उसी भक्त्युद्रेक से उन्हें सुदर्शन चक्र मिला है। शिव-विष्णु का तो परस्पर में ऐसा उपास्योपासक सम्बन्ध है कि जो अन्यत्र हो ही नहीं सकता। तम काला होता है और सत्त्व शुक्ल, इस दृष्टि से सत्त्वोपाधिक विष्णु को शुक्ल वर्ण होना था और तम उपाधिक रुद्र को कृष्ण वर्ण होना था और सम्भवत: हैं भी वे वैसे ही, परन्तु परस्पर एक-दूसरे की ध्यान जनित तन्मयता से दोनों के ही स्वरूप में परिवर्तन हो गया। अर्थात् विष्णु कृष्ण वर्णऔर रुद्र शुक्ल वर्ण हो गए। मुरली रूप से कृष्ण के अधरामृत पान का अधिकार शिव को ही हुआ। श्रीकृष्ण अपने अमृतमय मुखचन्द्र पर, सुमधुर अधर पल्लव पर पधराकर अपनी कोमलाङ्गुलियों से उनके पाद संवाहन करते, अधरामृत का भोग धरते, किरीट मुकुट का छत्र धरते और कुण्डल से नीराजन करते हैं। श्रीराधा रूप से श्रीशिव का प्राकट्य होता है, तो कृष्ण रूप से विष्णु का, काली रूप से विष्णु का तो शङ्कर रूप से शिव का। इस तरह ये दोनों उभय-उभयात्मा, उभय उभयभावात्मा हैं।

श्री शिव का सगुण स्वरूप भी इतना अद्भुत, मधुर, मनोहर और मोहक है कि उस पर सभी मोहित हैं। भगवान् को तेजोमयी दिव्य, मधुर, मनोहर, विशुद्ध सत्त्वमयी, मङ्गलमयी मूर्ति को देखकर स्फटिक, शङ्ख,

कुन्द, दुग्ध, कर्पूरखण्ड, श्वेताद्रि, चन्द्रमा सभी लज्जित होते हैं। अनन्तकोटि चन्द्रसागर के मन्थन से समुद्भूत, अद्भुत, अमृतमय, निष्कलङ्क पूर्ण चन्द्र भी उनके मनोहर मुखचन्द्र की आभा से लज्जित हो उठता है। मनोहर त्रिनयन, बालचन्द्र एवं जटामुकुट पर दुग्ध धवल स्वच्छाकृति गङ्गा की धारा हठात् मन को मोहती है। हस्ति-शुण्ड के समान विशाल, भूतिभूषित, सुडोल, गोल, तेजोमय, अङ्गद-कृष्ण शोभित भुजा, मुक्ता-मोतियों के हार, नागेन्द्रहार, व्याघ्रचर्म, मनोहर चरणारविन्द और उनमें सुशोभित नखमणि चन्द्रिकाएँ भावुकों को अपार आनन्द प्रदान करती हैं। हिमाद्रि के समान धवल वर्ण स्वच्छ नन्दीगण पर विराजमान सदाशक्ति-रूपा श्रीउमा के सङ्ग श्रीशिव विराजमान हों, किंवा माधुर्याधिष्ठात्री महाशक्ति के साथ मूर्तिमान् होकर परमानन्द रसामृतसिन्धु विराजमान हो।

भगवान् की ऐसी सर्वमनोहारिता है कि सभी उनके उपासक हैं। कालकूट विष और शेषनाग को गले में धारण करने से भगवान् की मृत्युञ्जयरूपता स्पष्ट है। जटामुकुट में श्रीगङ्गा को धारण कर विश्वमुक्ति मूल को स्वाधीन कर लिया। अग्निमय तृतीय नेत्र के समीप में ही चन्द्रकला को धारण कर अपने संहारकत्व-पोषकत्व विरुद्ध धर्माश्रयत्व को दिखलाया। सर्वलोकाधिपति होकर भी विभूति और व्याघ्रचर्म को ही अपना भूषण वसन बनाकर संसार में वैराग्य को ही सर्वापेक्षया श्रेष्ठ बतलाया। आपका वाहन नन्दी, तो उमा का वाहन सिंह, गणपति का वाहन मूषक, तो स्वामी कार्तिकेय का वाहन मयूर है। मूर्तिमान त्रिशूल और भैरवादि गण आपकी सेवा में सदा संलग्न हैं। ब्रह्मा, विष्णु, राम, कृष्णादि भी उनकी उपासना करते हैं। नर, नाग, गन्धर्व, किन्नर, सुर, इन्द्र, बृहस्पति, प्रजापति प्रभृति भी शिव की उपासना में तल्लीन हैं।

इधर तामस से तामस असुर, दैत्य, यक्ष, भूत, प्रेत, पिशाच, वेताल, डाकिनी, शाकिनी, वृश्चिक, सर्प, सिंह सभी आपकी सेवा में तत्पर हैं। वस्तुत: परमेश्वर का लक्षण तो यही है कि उसे सभी पूजें।

पार्वती के विवाह में जब भगवान् शङ्कर प्रसन्न हुए, तब अपनी सौन्दर्य-माधुर्य-सुधामयी दिव्य मूर्ति का दर्शन दिया। बारात में पहले लोग इन्द्र का ऐश्वर्य, माधुर्य देखकर मुग्ध हो गए, समझा कि यही शङ्कर हैं और उन्हीं की आरती के लिए प्रवृत्त हुए। जब इन्द्र ने कहा कि, "हम तो श्रीशङ्कर के उपासकों के भी उपासकों में निम्नतम हैं," तब उन लोगों ने प्रजापति ब्रह्मा आदि का अद्भुत ऐश्वर्य देखकर उन्हें परमेश्वर समझा। जब उन्होंने भी अपने को भगवान् का निम्नतम उपासक कहा, तब वे लोग विष्णु की ओर प्रवृत्त हुए और उन्हें ही अद्भुत ऐश्वर्य-माधुर्य-सौन्दर्य सम्पन्न देखकर शङ्कर समझा। जब श्रीविष्णु ने भी अपने को शङ्कर का उपासक बतलाया, तब तो सब आश्चर्य सिन्धु में डूबने लगे।

सचमुच भगवान् कृष्ण के श्रीअङ्ग का सौन्दर्य, माधुर्य अद्भुत है। और की कौन कहे, उस पर वे स्वयं मुग्ध हो जाते हैं। मणिमय स्तम्भों या मणिमय प्राङ्गण में प्रतिबिम्बित अपनी ही मधुर, मनोहर, मङ्गलमयी मूर्ति को देख, उसके ही सम्मिलन और परिरम्भण के लिए वे स्वयं विभोर हो उठते हैं। श्रीमूर्ति के प्रत्येक अङ्ग भूषणों को भी भूषित करते हैं। कौस्तुभादि मणिगणों ने अनन्त आराधनाओं के अनन्तर अपनी शोभा बढ़ाने

के लिए उनके श्रीकण्ठ को प्राप्त किया है, किं बहुना अनन्त गुणगणों ने भी अनन्त तपस्याओं के अनन्तर अपनी गुणत्व सिद्धि के लिए जिन निर्गुण, निरपेक्ष का आश्रयण किया है, वे स्वयं श्रीकृष्ण जिसकी उपासना करें, जिस पर मुग्ध रहें, उसकी महिमा, मधुरिमा का कहना ही क्या? राधारूप से जिसे प्रतिक्षण हृदय एवं रोम-रोम में रखें, वंशी रूप से अधर पल्लव पर रखें, जिनके स्वरूप को निरन्तर ध्यान करें, उनकी महिमा को कौन कह सकता है? शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के माधुर्य में प्राणियों का चित्त आसक्त होता है। इसीलिए भगवान् ऐसी मधुर, मनोहर, मङ्गलमयी मूर्ति रूप में अपने आपको व्यक्त करते हैं, जिनके शब्द स्पर्शादि के माधुर्य का पारावर नहीं, जिसके लावण्य, सौन्दर्य, सौगन्ध, सौकुमार्य की तुलना कहीं है ही नहीं। मानो भगवान् की सौन्दर्य सुधाजल निधि मङ्गल मूर्ति से ही, किंवा उसके सौन्दर्यादि सुधासिन्धु के एक बिन्दु से ही अनन्त ब्रह्माण्ड में सौन्दर्य, माधुर्य, लावण्य, सौगन्ध्य, सौकुमार्य आदि वितत हैं।

जब प्राणी का मन प्राकृत कान्ता के सौन्दर्य, माधुर्यादि में आसक्त हो जाता है, तब अनन्त ब्रह्माण्डगत सौन्दर्य, माधुर्यादि बिन्दुओं के उद्गम स्थान सौन्दर्यादि सुधाजल निधि भगवान् के मधुर स्वरूप में क्यों न आसक्त होगा?

भगवान् का हृदय भास्वती भगवती अनुकम्पा देवी के परतन्त्र है। संसार में माँगने वाला किसी को अच्छा नहीं लगता, उससे सभी घृणा करते हैं। परन्तु, भगवान् शङ्कर तो आक, धतूर, अक्षत, बिल्व पत्र, जल मात्र चढ़ाने, गला बजाने से ही सन्तुष्ट होकर सब कुछ देने को प्रस्तुत हो जाते हैं। ब्रह्माजी पार्वती से अपना दुखड़ा रोते हुए कहते हैं—

बावरो रावरो नाह भवानी।
जिनके भाल लिखी लिपि मेरी सुख की नाहिं निशानी।
तिन रङ्कन को नाक संवारत हों आयों नकबानी।
शिव की दई सम्पदा देखत श्री शारदा सिहाहीं।
दीनदयाल देइबोई भावई यां जस जाहि सुहाहीं।।

उनका भक्त एक ही बार प्रणाम करने से अपने को मुक्त मानता है। भगवान् भी 'महादेव' ऐसे नाम उच्चारण करने वाले के प्रति ऐसे दौड़ते हैं, जैस वत्सला गौ अपने बछड़े के प्रति—

महादेव महादेव महादेवेति यो वदेत्।
एकेन मुक्तिमाप्नोति द्वाभ्यां शम्भू ऋणी भवेत्।।

ठीक ही है, वेदान्त-सिद्धान्तानुसार शब्द से ही तत्त्व का साक्षात्कार होता है। उपनिषदों, महावाक्यों एवं भगवत्स्वरूप बोधक प्रणवादि नामों से तत्त्व साक्षात्कार होता है। तत्त्व साक्षात्कार होते ही कल्पित संसार मिट जाता है। स्वाभाविक पारमार्थिक ब्रह्मानन्दरसामृत मुक्ति मिल जाती है। जैसे अमृतसागर में क्षीरसागर की कल्पना भ्रान्ति से ही होती है, वैसे ही परमानन्दरसामृत मूर्ति शिव तत्त्व में भवसागर की भ्रान्ति होती है।

अधिष्ठान के साक्षात्कार से कल्पना मिट जाती है। यह '**नाम लेत भवसिन्धु सुखाहीं**' का आशय है। दूसरी दृष्टि से जैसे तृण, वीरुध, औषधों के विचित्र सम्प्रयोग-विप्रयोग से विचित्र गुणों और दोषों का उद्भव-अभिभव होता है, वैसे ही वर्णों के विचित्र सम्प्रयोग-विप्रयोग में विचित्र शक्तियाँ होती हैं। 'क', 'ख', 'ग', 'घ' आदि वर्णों के ही जोड़-तोड़ से विचित्र वाङ्मय शास्त्र बने हैं। 'राजा', 'जारा', 'नदी', 'दीन' यह सब अर्थ विपरिणाम वर्णों के आनुपूर्वी ही भेद से होते हैं। सर्प, वृश्चिक, पिशाच, राक्षस, देवता वश में हो जाते हैं। ऐसे विचित्र वर्ण विन्यास होते हैं, जिनका मूल्य संसार में कुछ भी नहीं है। विद्वानों, कवियों, तार्किकों के वर्णविन्यास विशेष में ही खूबी है, किन्हीं वर्णविन्यासों से परम मित्र भी शत्रु हो जाते हैं।

इस तरह अदृष्टविधया भी भगवान् के शिव, महादेव आदि नामों मे विचित्र शक्ति है, जिससे प्राणी निष्पाप होकर परम तत्त्व का साक्षात्कार कर कृतकृत्य हो जाता है।

भक्तिसुधा (४२-५१) से साभार।

❑

त्रिपुरा रहस्य परिचय

महामहोपाध्याय पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

हमारे शास्त्रों के दो भेद हैं—निगम और आगम, जिन्हें वेद और तन्त्र नाम से कहा जाता है। वेद समस्त विद्याओं का भण्डार है। उनमें से जिन जिन तत्त्वों को अनुभव के अनुसार जहाँ प्रमाणित किया गया, उन शास्त्रों को आगम या तन्त्र कहते हैं। इसके अतिरिक्त, हमारे पुराण सृष्टि के विवरण प्रस्तुत करते हैं, पर आगम सृष्टि के प्रादुर्भाव का रहस्य बतलाता है। इसलिए दोनों परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं। *त्रिपुरा रहस्य* आगमशास्त्र का विषय है। इसलिए, उस शास्त्र का भी परिचय देना आवश्यक है। आगम शास्त्र शक्ति को प्रधान मानता है। शक्ति और शक्तिमान् मिलकर जगत् के मूल तत्त्व बनते हैं। जब यह सिद्ध हो गया, तब अपने अनुभव और अधिकार के अनुसार प्रधानता किसी की भी मानी जा सकती है। यह भी कहा जा सकता है कि शक्तिमान् तो निर्विकार कूटस्थ मात्र है। शक्ति के सहारे ही शक्तिमान् होगा और शक्तिमान् के आधार पर ही शक्ति टिक सकती है। अत:, अङ्ग-अङ्गी की तरह दोनों का अस्तित्व कायम है। इसीलिए, शक्ति को शक्तिमान् का अङ्ग माना गया है। किन्तु, आगम शास्त्र शक्ति को ही प्रधान मानता है। उसके अनुसार शक्ति ही अपने आश्रय को बना लेती है अथवा यों कहा जाए कि शक्तिमान् भी शक्ति का ही एक विकास है। आगम शास्त्र में यद्यपि शक्तिमान् रूप से शिव, विष्णु आदि की उपासना की जाती है; किन्तु शक्ति से भिन्न मानकर नहीं। शिव की उपासना वहाँ गौरी सहित है एवं विष्णु की उपासना लक्ष्मी सहित। अत: शक्ति की प्रधानता आगम शास्त्र में प्रसिद्ध है। वह शक्ति को जड़ नहीं मानता; किन्तु चिच्छक्ति नाम से इसकी उपासना बतलाता है और उसे परम शिव से अभिन्न ही मानता है; क्योंकि दोनों कभी भिन्न-भिन्न होकर नहीं रहते। इससे अद्वैत में भी बाधा नहीं आती है। अविभाग रूप अद्वैत बना ही रहता है। यह भी एक बड़ा भेद है कि आगम शास्त्र में परम तत्त्व सर्वथा निर्धर्मक नहीं माना जाता। उसमें एक स्वातन्त्र्य रूप मुख्य शक्ति या मुख्य धर्म सदा बना रहता है। अपने स्वातन्त्र्य के कारण ही जब वह प्रपञ्च रूप से क्रीड़ा करने की इच्छा करता है, तब आणव मल से सम्बद्ध होकर जीव रूप बन जाता है और उसकी शक्तियाँ भी सङ्कुचित होकर जीव की सहचारिणी बन जाती हैं। उन्हीं के कारण जीव अपने को परिच्छिन्न और दु:खमग्न मानने लगता है। हमारे अन्य दर्शन शास्त्रों में यह एक विचारणीय प्रश्न आता है कि परब्रह्म स्वतन्त्रता से किसी को सुखी और किसी को दु:खी बनाता है तो उसमें विषमता और निर्दयता का भाव अवश्य है। किन्तु, आगम शास्त्र कहता है कि यह तो किसी दूसरे पर अनुग्रह या अत्याचार नहीं है। जब वह स्वयं ही प्रपञ्च रूप से नाना रूप धारण करता है, तब वह स्वयं ही सुख और दु:ख भोगता है। यहाँ दूसरे पर अनुग्रह और अत्याचार का प्रश्न ही नहीं है।

आगमशास्त्र में शक्ति के भिन्न-भिन्न विकास माने गए हैं। महामाया, माया और प्रकृति—ये सब शक्ति के ही क्रमिक विकास हैं। जब परमशिव आणव मल के परिग्रह से सङ्कुचित हो जाता है, तब वह महामाया और माया के बन्धन में पड़ता है। माया शिव की शक्तियों को सङ्कुचित कर उनके द्वारा जीव को अपने बन्धन में लेती है। इन्हें ही पञ्चकञ्चुक कहा गया है। ईश्वर में पाँच प्रकार की प्रधान शक्तियाँ है, जो सङ्कुचित रूप में जीव को प्राप्त होती है। ईश्वर में सर्वकर्तृत्व है, अत: उसकी शक्ति कला रूप में संकुचित होकर जीव को प्राप्त होती है। कला शिक्षा द्वारा जीव भी बहुत कुछ निर्माण कर सकता है, फिर भी सब कुछ बनाने का सामर्थ्य इसे प्राप्त नहीं है। जितनी कला इसमें होगी, उतना ही सर्जन कर पाएगा। ईश्वर की दूसरी शक्ति सर्वज्ञता है; जो विद्या रूप में सङ्कुचित होकर जीव को प्राप्त होती है। विद्या द्वारा जीव भी बहुत कुछ जान सकता है; किन्तु सर्वज्ञ नहीं बन सकता। ईश्वर की तीसरी शक्ति त्रिकालाबाध्य सत्ता है, अर्थात् उसका अस्तित्व सर्वदा है। किसी भी काल में उसका अभाव नहीं रहता। यही शक्ति काल रूप में सङ्कुचित होकर जीव को प्राप्त होती है, जिससे यह नियत काल तक सत्ता धारण कर सकता है। ईश्वर में चौथी शक्ति आनन्दरूपा है। वह नित्यानन्दमय है। वह उसकी शक्ति राग रूप से सङ्कुचित होकर जीव को प्राप्त है। राग (प्रेम) के द्वारा जीव भी आनन्द का उपभोग आंशिक रूप से करता है। परमानन्द इसे प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार, ईश्वर में पाँचवीं शक्ति सर्वभवन सामर्थ्य है। इसका तात्पर्य है कि वह स्वेच्छया यथाभिरुचि रूप धारण कर सकता है या विवर्तित हो सकता है। यह शक्ति भी नियत रूप से सङ्कुचित होकर जीव को प्राप्त होती है। इसी शक्ति से प्राणी घटता बढ़ता है और बाल्य, यौवन आदि भेद से या मनुष्य, पशु आदि नाना पर्यायों में अनेक रूप बनता है; किन्तु सब कुछ नहीं बन सकता। इन्हीं पाँच कञ्चुकों से आवृत्त होकर वह जीव भाव प्राप्त होता है। स्वभावत:, जीव इन पाँचों कञ्चुकों को तोड़ डालना चाहता है। मैं भी सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, पूर्णानन्दमय बनूँ, यह इसकी इच्छा स्वभावत: रहती है। किन्तु, जीव भाव रहते माया के ये पाँचों कञ्चुक टूट नहीं सकते और पूर्ण शक्तियाँ वह प्राप्त नहीं कर सकता। इन पाँचों कञ्चुकों को तोड़ने का उपाय शास्त्रों ने उपासना ही बताया है। उपासना द्वारा मन का निरन्तर ईश्वर में अर्पण करने से जीव में ईश्वर के धर्म प्रकट होने लगते हैं। यह ईश्वर धर्म जैसे-जैसे बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे क्रमश: पाँचों कञ्चुक शिथिल होते जाते हैं और अन्त में टूट जाते हैं। फिर तो जीवन शिव रूप बन जाता है। उपासना बिना ज्ञान के हो नहीं सकती। मन को ईश्वर में लगाने का नाम ही उपासना है। जब तक ईश्वर का ज्ञान न होगा, तब तक मन लगेगा कैसे? अज्ञात वस्तु को तो मन पकड़ ही नहीं सकता, इसलिए ईश्वरत्व ज्ञान पहले आवश्यक होता है। उपासना करते-करते वह ज्ञान भी स्वच्छ होता जाता है और उपासना भक्ति रूप में परिणत हो जाती है। ज्ञान और भक्ति का एक-दूसरे के माध्यम से उत्कर्ष होता जाता है और चरम अवस्था में परमाभक्ति और परम ज्ञान एक रूप ही हो जाते हैं। इस स्थिति पर पहुँचने पर जीव भाव निवृत्त होकर शिवत्व की प्राप्ति हो जाती है।

अधिकारानुसार उपासना के बहुत भेद शास्त्रों में वर्णित हैं। जिस प्रकार शक्तिमान् रूप में शिव, विष्णु आदि उपास्य के अनेक भेद हैं, उसी प्रकार आगम शास्त्र में भी शक्ति के अनेक उपास्य भेद बताये गये हैं। उन अनन्त रूपों का दस रूपों में वर्गीकरण किया गया है, जिससे दस महाविद्याएँ आगम शास्त्र में विख्यात

हैं। जिस समय प्रपञ्च का दृश्य पदार्थ अस्तित्व में नहीं था, उस महाप्रलयावस्था से आरम्भ कर प्रपञ्च की पूर्णता पर्यन्त दस अवस्थाएँ मानी गई हैं। उन अवस्थाओं में कार्य करने वाली चित्-शक्ति को दस विभागों में विभक्त किया गया। जब महाप्रलय में जगत् का प्रादुर्भाव करने की इच्छा भगवान् या भगवती को होती है, तब उस प्राथमिक अवस्था को आद्याशक्ति कहा जाता है। उस अवस्था में कुछ नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि कुछ नहीं होता, तो प्रपञ्च में सब कुछ कहाँ से आता। 'असत्' से 'सत्' नहीं हो सकता, यह आर्य दर्शनों का डिण्डिमघोष है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।। — *भगवद्गीता*

इससे यह सिद्ध है कि महाप्रलय दशा में भी सब कुछ है; किन्तु सुषुप्ति दशा में है। अतः सम्पूर्ण स्थूल-सूक्ष्म ब्रह्माण्ड की सुषुप्ति का नाम ही 'महाप्रलय' कहलाता है। उस अवस्था में जीव भी रहते हैं; किन्त सुषुप्ति दशा में। सुषुप्ति एक प्रकार की मृत्यु अवस्था है। इसलिए आद्याशक्ति के समस्त उपकरण शव (मृत) रूप माने गए हैं। शव पर ही वह आरूढ़ मानी गई है। शवों के मुण्डों की ही माला पहने हुए है। कानों में कुण्डल शवों के मुण्ड ही हैं और उसकी काञ्ची (करधनी) शवों के निर्जीव हाथों की बनी हुई है। आद्याशक्ति का स्वरूप भी गहरा कृष्ण वर्ण है, जो प्रकाश के सर्वथा अभाव की सूचना देता है। इस प्रकार, महाविद्याओं के स्वरूप पूर्ण वैज्ञानिक हैं। फिर, जब सम्पूर्ण प्रपञ्च बन जाता है, तब उसकी अधिष्ठात्री महाशक्ति का नाम षोडशी होता है। उस समय वह सोलह कलाओं से परिपूर्ण मानी गई। वह पूर्ण जगत् की अधिष्ठात्री है और रजोगुण प्रधान होने से आगम शास्त्र उसका रूप रक्त वर्ण का मानता है।

प्रपञ्च के सोलह पदार्थ अभी कहे गए। इन सोलहों को तीन वर्गों में बाँटा गया है—स्थूल, सूक्ष्म और कारण। शक्ति के ये ही तीन पुर हैं। इनका उत्पादन, पालन, संहार आदि करने वाली महाशक्ति इन्हीं तीनों पुरों में रहती हैं, जिससे वह 'त्रिपुरा' कहलाती है। उस महाशक्ति 'त्रिपुरा' भगवती का ही यह प्रभाव है कि जगत् के समस्त पदार्थ तीन-तीन रूपों में ही विभक्त होते हैं। उत्पादक, पालक और संहारक त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु और महेश माने गये हैं। लोक भी तीन हैं—भूमि, अन्तरिक्ष और स्वर्ग। इन लोकों के नियामक देवता भी तीन हैं—अग्नि, वायु और आदित्य। वेद भी तीन माने गये हैं—ऋक्, यजुः और साम। हमारे जीवों के शरीर भी तीन हैं—स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर। स्थूल शरीर तो प्रत्यक्ष ही है। इसके ही स्थूल पदार्थों का निरूपण न्याय आदि शास्त्र करते हैं। किन्तु, यह स्थूल शरीर सर्वथा जड़ है। इसका परिचालन करने वाला सूक्ष्म शरीर है, जिसमें पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण तथा मन और बुद्धि ये सत्रह तत्त्व माने जाते हैं। इसका निरूपण सांख्य ने विस्तार से किया है। स्थूल शरीरों के नष्ट हो जाने पर भी सूक्ष्म शरीर बना रहता है। भिन्न-भिन्न शरीरों और भिन्न-भिन्न लोकों में यही सूक्ष्म शरीर जाता और आता है। किन्तु महाप्रलय में यह भी नष्ट हो जाता है। ऐसी स्थिति में तब प्रश्न उठता है कि ज्ञान और कर्म के संस्कार किसके

आधार पर रहते हैं। यदि संस्कार न रहें, तो आगे होने वाली सृष्टि में प्राणियों के जन्म और कर्म का कौन नियामक होगा? अत: वेदान्त दर्शन सूक्ष्म शरीर का भी आधारभूत एक कारण शरीर मानता है। वह कारण शरीर वासनात्मक है। वह हमारी सुषुप्ति दशा में भी अपना काम करता है और महाप्रलय में भी बना रहता है। वह उसी दिन निवृत्त होता है, जिस दिन भगवती महाशक्ति की कृपा से जीव को मोक्ष प्राप्त होता है, इसलिए उसे 'अनादि सान्त' कहते हैं। आगम शास्त्र में तो कारण शरीर से पहले के भी शरीरों का वर्णन आता है। वह कहता है। कारण शरीर तक तो भाषा की सृष्टि है; किन्तु इससे आगे का महाकारण शरीर या बैन्दव शरीर बिन्दुरूपा महामाया से बना है। गुरुजन जब शिष्य को शिक्षा देते हैं, तब इसी बैन्दव शरीर को जागरित करते हैं। इसी शरीर के द्वारा उपासना की सिद्धि होती है। फिर, मुक्ति दशा में एक 'विद्रूप कैवल्य शरीर' माना गया। उस मुक्ति के आगे भी उपासक जब उपास्य इष्टदेव की कृपा से अपने-अपने इष्टदेव की नित्यलीला में प्रवेश करता है, तब एक 'हंसदेह' स्वरूप देह प्राप्त होती है। इसी को आगम शास्त्र जीवन की अन्तिम सफलता मानता है और यही उसका परम पुरुषार्थ है। आगम शास्त्र के अनुसार यह केवल भक्ति से प्राप्य है। ज्ञान से प्राप्त होने वाला मोक्ष उसके यहाँ परम पुरुषार्थ नहीं माना जाता।

उपर्युक्त महाकारण शरीर, बैन्दव शरीर और विद्रूप कैवल्य शरीर—ये तीन अलौकिक शरीर हैं। किन्तु, लोक व्यवहार में तो स्थूल, सूक्ष्म और कारण ये तीन शरीर आते हैं। इसलिए, अवस्थाएँ भी तीन होती हैं—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। जाग्रत् अवस्था का स्थूल शरीर से सम्बन्ध है, स्वप्नावस्था का सूक्ष्म शरीर से और सुषुप्ति अवस्था का कारण शरीर से। इन सभी शरीरों और अवस्थाओं से छुटकारा पाने का उपाय बतलाने वाले वेद भी तीन हैं, यह मैंने पहले ही कहा है। इन वेदों का साररूप प्रणव है, उसकी मात्राएँ भी तीन ही हैं। इस प्रकार, तीन का क्रम सर्वत्र चलता है। यही त्रयी 'त्रिपुरा' की व्यापकता की सूचना हमें देती रहती है। इस 'त्रिपुरा' का वर्णन करने वाला '*त्रिपुरा रहस्य*' आगम ग्रन्थ है। इसके भी तीन खण्ड हैं—माहात्म्य खण्ड, ज्ञान खण्ड और चर्या खण्ड। प्रथम में त्रिपुरा भगवती के अवतारों का वर्णन है। अवतारों के द्वारा उसका माहात्म्य बताया गया है। द्वितीय ज्ञान खण्ड में परतत्त्वरूपा भगवी का स्वरूप उपलक्षित किया गया है। फिर तृतीय चर्या खण्ड में उपासना की विधि वर्णित है। चर्या खण्ड तो अभी कहीं प्राप्त ही नहीं हुआ। केवल अभी दो खण्ड ही इसके प्राप्त हैं। इनमें से माहात्म्य खण्ड के ही कुछ अंशों का निर्देश यहाँ दिया गया है।

आर्य संस्कृति का यह नियम है कि किसी भी विद्या को जानने के पहले उसका 'सम्प्रदाय' जानना आवश्यक होता है। 'सम्प्रदाय' शब्द को आजकल बहुत दूषित मान लिया है। किन्तु, पुराने समय में यह शब्द बहुत महत्त्व का माना जाता था। किसी पुरुष ने किसी विद्या का आविष्कार किया हो अथवा किसी विद्या की प्राप्ति की हो, उसका ज्ञान अपने शिष्यों को दे और शिष्य भी उसका ज्ञान अपने शिष्यों को दें। इसी क्रम परम्परा का नाम 'सम्प्रदाय' है। कोई भी पुरुष किसी से विद्या की कुछ बात कहता, तो वहाँ सबसे पहले पूछा जाता था **भवत: कुत: सम्प्रदाय:** इत्यादि। *त्रिपुरा रहस्य* ग्रन्थ में भी 'त्रिपुरा' भगवती की विद्या का पहले सम्प्रदाय ही बताया गया है। इस ग्रन्थ के प्रवक्ता मेधा या सुमेधा ऋषि हैं। उन्होंने परशुराम से विद्या प्राप्त की।

परशुराम ने दत्तात्रेय से, दत्तात्रेय ने ब्रह्मा से, ब्रह्मा ने विष्णु से और विष्णु ने शिव से यह विद्या प्राप्त की। यही इस सम्प्रदाय का विवरण है। *श्रीमार्कण्डेयपुराण* में *सप्तशती* नाम के दुर्गा चरित्र के उपदेष्टा भी मेधा ऋषि हैं। सम्भव है, ये वे ही मेधा हों; क्योंकि दोनों ही शक्ति सम्प्रदाय के अग्रणी नेता हैं। दोनों पृथक् पृथक् भी हो सकते हैं। यह तो अन्वेषण का विषय है।

मेधा ऋषि के परशुराम से दीक्षा प्राप्त करने के कारण परशुराम का चरित्र इस ग्रन्थ के आरम्भ में विस्तार से वर्णित हुआ है। परशुराम के चरित्र का पुराणों में भी बहुधा वर्णन है। च्यवन ऋषि के पुत्र ऋचीक को गाधिराज की कन्या ब्याही थी। पहले उत्तम राजकुल की कन्याएँ भी ब्राह्मण लोग ग्रहण कर लिया करते थे। उस गाधि-नन्दिनी ने ऋचीक ऋषि की बहुत सेवा की। तब सेवा से प्रसन्न होकर एक दिन ऋचीक ने कहा कि तुमने मुझे बहुत सन्तुष्ट किया है, कोई वर माँगो। गाधि-नन्दिनी ने प्रार्थना की कि मेरे भ्राता नहीं है। आप कृपा कर मेरी माता को एक तेजस्वी प्रतापी पुत्र दीजिए और मुझे भी एक सुयोग्य प्रतापी विद्वान् पुत्र दीजिए। ऋचीक ऋषि ने दो प्रकार के चरु बनाये। अपने तपोबल से एक में ब्रह्मतेज रखा और दूसरे में क्षत्रतेज। ब्रह्म तेज वाला चरु अपनी पत्नी को खाने के लिए बतलाया और क्षेत्र तेज वाला चरु वह अपनी माता को खिला दे, ऐसा समझाया। गाधि-नन्दिनी दोनों चरुओं को लेकर अपनी माता के पास गई और दोनों चरुओं का प्रभाव बतलाया। माता के मन में लोभ आया। उसने बड़े प्यार से पुत्री से कहा कि पुत्री, प्रत्येक मनुष्य अपने पुत्र को सबसे अच्छा देखना चाहता है। अत: ऋषि ने तुझे जो चरु दिया है, उसमें अवश्य ही अधिक वैशिष्ट्य होगा, जिससे तुझे भी सुख होगा। मातृभक्ता गाधि-नन्दिनी ने माता की अतिशय प्यार भरी वाणी सुनकर उसकी बात मान ली। दोनों मुग्ध स्त्रियाँ ब्रह्म तेज की बातें नहीं समझ सकीं और विशेष प्रभाव के लोभ में चरु बदल कर खाई गईं। जब ऋचीक ने पूछा कि तुम दोनों ने चरु खा लिए, तब उनकी स्त्री ने परिवर्तन करके चरु भक्षण की बात कह दी। ऋषि ने कहा कि तुमने बड़ा अनर्थ किया। अब तुम्हारी माता को ब्राह्मण स्वभाव वाला पुत्र होगा और तुम्हें अतिशय युद्धप्रिय तथा कालाग्नि सदृश क्रोध वाला क्षत्रिय स्वभाव का पुत्र होगा। यह सुनकर ऋषि पत्नी बहुत दु:खित हुईं और उन्होंने प्रार्थना की कि मैं हिंसा करने वाला क्रोधी पुत्र नहीं चाहती। ऋषि ने कहा, मैं क्या करूँ, चरु का प्रभाव तो कभी हटाया नहीं जा सकता। जब ऋषि पत्नी ने बहुत अनुरोध क्या, तब ऋषि ने कहा कि मैं अपने तपोबल से इतना कर सकता हूँ कि वह क्षत्रिय गुण तुम्हारे पुत्र में प्रकट न होकर पौत्र में प्रकट हों। ऋषि के इस आश्वासन से ऋषि पत्नी सन्तुष्ट हो गईं। बाद में इसी चरु के परिवर्तन से गाधिराज की पत्नी में 'विश्वामित्र' का जन्म हुआ। इसीलिए विश्वामित्र तपस्या के बल से ब्राह्मण बन गए। इधर ऋचीक की पत्नी से जमदग्नि नामक पुत्र हुआ। जमदग्नि ऋषि जीवन पर्यन्त स्वयं शान्त ब्राह्मण बने रहे। किन्तु ऋचीक के पौत्र और जमदग्नि के पुत्र परशुराम में चरु का प्रभाव प्रकट हुआ। वे दुर्दान्त क्षत्रिय स्वभाव के प्रतापी पुरुष हुए। ब्राह्मण के घर में उत्पन्न होने के कारण प्रथम वय में परशुराम ने भलीभाँति वेदादि का अध्ययन किया और स्वाभाविक रुचि होने के कारण शस्त्र विद्या में भी निष्णात हो गए। जब माहिष्मती के राजा कार्त्तवीर्य सहस्रार्जुन ने इनके पिता का वध कर दिया, तब इनका वह

क्षत्रबल कालाग्नि के समान भड़क उठा। इन्होंने अपने बाहु प्रताप से कार्त्तवीर्य का तो समूल नाश कर ही दिया। परमोद्धत सम्पूर्ण क्षत्रियों के संहार का भी व्रत ले लिया। इसके प्रचण्ड क्रोध और प्रताप के सामने कोई क्षत्रिय ठहर न सका। बहुतेरे क्षत्रियों ने शरणागत होकर, बहुतेरों ने अपनी जाति बदलकर और बहुतों ने स्त्रियों में छिप छिप कर अपने प्राण बचाये। इतने पर भी जब इन्हें मालूम हुआ कि अभी बहुत-से क्षत्रिय जीवित बच गए हैं, तब फिर दूसरी बार इन्होंने क्षत्रियों का संहार किया। इस प्रकार, क्रमशः इक्कीस बार पृथ्वी की प्रदक्षिणा करते हुए ये क्षत्रियों को नष्ट करते रहे। बड़ी कठिनाई से कहीं कोई क्षत्रिय बच पाया। अन्त में पूर्णावतार भगवान् राम के सामने जब इनका बल गर्व खर्व हुआ, तब इन्होंने अपना शस्त्र छोड़ दिया।

शस्त्र त्याग कर जब परशुराम तपस्या के लिए जा रहे थे, तब इनके मन में बड़ा भारी पश्चात्ताप हो रहा था कि मैंने बहुत बड़ा अनर्थ किया है। इस महापाप से मेरा छुटकारा कैसे होगा। उसी समय मार्ग में इन्हें एक अत्यन्त तेजस्वी व्यक्ति दिखाई पड़ा, जो विक्षिप्त सा प्रतीत हो रहा था। परशुराम उसके समीप जाकर उससे कुछ बातें करना चाहते थे; किन्तु वह अन्यमनस्क सा बना रहा और इनसे उसने कुछ बात नहीं की। उसकी ऐसी धृष्टता देखकर परशुराम ने बुरे शब्दों से उसका तिरस्कार किया, तब भी वह कुपित न हुआ और वह हँसता हुआ ही कुछ अनाप-शनाप बोलता रहा। उसकी ऐसी निर्लिप्तता देखकर परशुराम ने निश्चय किया कि अवश्य ही यह कोई विशिष्ट तपस्वी है, जिसने काम, क्रोध आदि पर विजय प्राप्त कर ली है। परशुराम तुरन्त उसके चरणों में गिर पड़े और प्रार्थना करने लगे कि अपना परिचय दीजिए और मेरा उद्धार कीजिए। परशुराम का समर्पण देखकर उस व्यक्ति ने कहा—'मैं बृहस्पति का भ्राता संवर्त्त हूँ। छोटी अवस्था में ही घर छोड़कर तपस्या में लग गया था। लोगों से बचने के लिए विक्षिप्त सा रहता हूँ और सर्वथा आत्म चिन्तन करता रहता हूँ। तुम्हें उपदेश देने का मेरे पास समय नहीं है। तुम दत्तात्रेय के पास जाओ। वे ही तुम्हें 'त्रिपुरा भगवती' की दीक्षा देंगे और उस भगवती की आराधना से तुम्हारा कल्याण होगा।' संवर्त्त का ऐसा उपदेश पाकर परशुराम गन्धमादन पर्वत पर भगवान् दत्तात्रेय के दर्शनार्थ गए।

गन्धमादन पर्वत हिमालय से भी बहुत उत्तर है। वह एकान्ततः देवभूमि है। वहाँ बड़ा प्रशान्त तपोवन परशुराम ने देखा। उस तपोवन में एक बहुत बड़ा प्रभावोत्पादक आश्रम था। उस आश्रम के प्रथम कक्ष में एक तपस्वी को बैठा देखकर प्रणामपूर्वक परशुराम ने पूछा कि आपका शुभ नाम क्या है और दत्तात्रेय भगवान् का आश्रम कहाँ है? उस तपस्वी ने हँसते हुए उत्तर दिया कि यही दत्तात्रेय का आश्रम है। गुरुकृपा से आपके आगमन की बात मैंने पहले ही जान ली थी। भगवान् दत्तात्रेय भीतर विराज रहे हैं। आप उनके समीप चले जाइए। परशुराम ने भीतर प्रवेश कर देखा कि एक तेजस्वी युवा के रूप में दत्तात्रेय भगवान् विराजमान हैं। उनके समीप ही एक परम सुन्दरी वेश्या बैठी हुई है। वह अपनी प्रेम चेष्टाओं से उन्हें मुग्ध कर रही है। पास ही सुरा से परिपूर्ण एक पात्र रखा है। परशुराम के चित्त में यह दृश्य देखकर बड़ा सन्देह उत्पन्न हुआ; किन्तु संवर्त्त के उपदेश से पूर्ण श्रद्धा उत्पन्न हो चुकी थी। श्रद्धा शब्द का अर्थ है कि दोष दर्शन की वृत्ति ही न उत्पन्न होने देना। अतः, इन्होंने उक्त दोषों की ओर ध्यान ही नहीं दिया। इन्होंने मन में विचार किया कि महात्माओं के

चरित्र अलौकिक होते हैं। ऐसा सोचकर परशुराम प्रणाम कर उनके चरणों के पास बैठ गये। जब दत्तात्रेय भगवान् ने परशुराम को देखा, तब इनका स्वागत करते हुए कहा—परशुराम! तुम कल्याण की लालसा से सन्मार्ग में प्रवृत्त हुए हो। संसार में इन्द्रिय जय ही कल्याण का मार्ग है। जिसने इन्द्रियों को जीता, उसने सब कुछ जीत लिया। जिह्वा और उपस्थ इन दो का विजय ही सबसे कठिन है। मैं तो इन दोनों के उपभोग की सामग्री अपने पास रखता हूँ। यह सुरा और वेश्या ये दोनों मेरे पास वर्तमान हैं। उपभोग की इस सामग्री को देखकर तपोवन में जितने महात्मा थे, सब मेरा सङ्ग छोड़ चले गए। सभी मुझे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। फिर, तुम मेरे पास किसकी प्रेरणा से आये? तुम्हें मेरे चरित्रों से घृणा क्यों नहीं होती?

इस प्रकार के प्रश्न सुनने के पश्चात् परशुराम ने संवर्त्त की बातें सुनाईं और कहा कि मैं आपका परिचय प्राप्त कर चुका हूँ। मैं पूर्ण श्रद्धा के साथ आपकी शरण में आया हूँ। कृपा कर शरणागत का त्याग न कीजिए और मुझे उपदेश दीजिए। दत्तात्रेय परशुराम की वास्तविक श्रद्धा जानकर बड़े प्रसन्न हुए और 'तान्त्रिक प्रत्यभिज्ञा दर्शन' के अनुसार उन्हें उपदेश दिया—"इस दर्शन के अनुसार परम शिव ही एक मूल तत्त्व हैं। जब वे अपने स्वातन्त्र्य से नाना रूप से क्रीड़ा करना चाहते हैं, तब अपनी शक्तियों को सङ्कुचित कर नाना रूप धारण करते हैं। जीव को उस परम शिव का भान होता रहता है; क्योंकि इसकी शक्तियाँ शिव की महाशक्ति का ही अंश हैं। किन्तु, भान होने पर भी यह रहस्य को समझ नहीं पाता। जिस दिन इसे **मैं परम शिव ही हूँ** ऐसी प्रत्यभिज्ञा हो जाएगी, उस दिन यह कृतार्थ हो जाएगा। यह प्रत्यभिज्ञा भगवती त्रिपुर सुन्दरी की कृपा के बिना नहीं हो सकती, अत: तुम 'त्रिपुर सुन्दरी' की आराधना में लग जाओ। वही तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करेगी।" "भगवन् मैं त्रिपुर सुन्दरी की आराधना किस रीति से करूँगा।" परशुराम द्वारा यह पूछे जाने पर दत्तात्रेय ने 'त्रिपुर सुन्दरी' के अवतारों का वर्णन किया। भगवती का तत्त्व ज्ञान दिया और उपासना की सारी विधियाँ भी समझा दीं एवं दीक्षा भी दे दी। दीक्षा प्राप्त करके परशुराम त्रिपुर सुन्दरी की आराधना करके मलय पर्वत पर चले गए।

सुमेधा ऋषि एक समय कल्याण कामना से भगवान् परशुराम की सेवा में मलयाचल पर गए और उन्होंने आत्म कल्याण के उपायों का प्रश्न किया। परशुराम ने इन्हें वही पूर्वोक्त सारे तत्त्व समझाये और 'त्रिपुर सुन्दरी' के एक रूप 'बालाम्बा' की दीक्षा दी। दीक्षा तन्त्रशास्त्र का एक आवश्यक कृत्य मानी गई है। दीक्षा के बिना तान्त्रिक को किसी उपासना का अधिकार प्राप्त नहीं होता। वैदिक मार्ग में भी उपनयन संस्कार नामक दीक्षा आवश्यक है। बिना उपनयन संस्कार के वेद का अक्षरोच्चारण वर्जित है। इसी प्रकार, तान्त्रिक दीक्षा के बिना कोई भी तन्त्रोक्त अनुष्ठान नहीं किया जा सकता। पहले कहा जा चुका है कि गुरु दीक्षा के द्वारा शिष्य के 'बैन्दव शरीर' को जागरित करता है। वह अलौकिक 'बैन्दव शरीर' ही अलौकिक भगवान् की उपासना में संलग्न हो सकता है। वैदिक दीक्षा रूप उपनयन संस्कार में भी अग्नि सञ्चालन कर शिष्य की मेधा शक्ति परिपुष्ट की जाती है। तभी वह वेद के गम्भीर तत्त्वों को पढ़ने और समझने का अधिकारी होता है। अत: परशुराम ने पहले सुमेधा को छोटी दीक्षा दी और कहा कि इसकी आराधना द्वारा जब तुम सिद्धि प्राप्त कर लोगे, तब आगे की उच्च शिक्षा दी जाएगी। इस उपासना की सिद्धि प्राप्त हो जाने पर पुन: हमारे पास आना।

सुमेधा ऋषि श्रीशैल पर भ्रामरी देवी के स्थान में जाकर व्रत-नियमपूर्वक तपस्या करने लगे। वे निरन्तर भगवती के ध्यान में तत्पर रहते थे और आहारादि के द्वारा होने वाली शरीर यात्रा की भी परवाह नहीं करते थे। इस उपासना से इनमें भगवती की स्फूर्ति होने लगी। एक रात्रि को स्वप्नावस्था में इन्हें भगवती का दर्शन प्राप्त हुआ। हर्ष गद्‌गद होकर सुमेधा ने भगवती की श्रद्धा-भक्तिपूर्वक स्तुति की। भगवती ने वरदान दिया कि तुम उपासना में सिद्ध हो गए। अब गुरु के पास जाओ और इसके आगे की उच्च दीक्षा ग्रहण करो।

ऋषि सुमेधा भोर होते ही गुरु के पास चल पड़े। किन्तु, रास्ते में उन्हें सन्देह हुआ कि मैंने जो कुछ देखा और सुना है, वह तो स्वप्नावस्था की बात थी। स्वप्न को तो दार्शनिक भ्रम रूप कहते हैं। दिन में जो कुछ हम सोचते-विचारते हैं और जैसी हमारी मनोवृत्तियाँ होती रहती हैं, उन्हीं का एक आकार रात्रि में निद्रा रूप दोष के कारण दिखाई दे जाया करता है। उसमें सत्यता का विश्वास कैसे किया जाए? इस प्रकार, विचार कर उन्होंने निश्चय किया कि गुरु के पास मैं नहीं जाऊँगा। ऐसा विचार कर ही रहे थे कि आकाशवाणी द्वारा उन्हें पुन: आदेश मिला कि सन्देह मत करो, अवश्य गुरु के पास जाओ। तब सुमेधा बड़ी प्रसन्नता से परशुराम भगवान् के पास गए और सब वृत्तान्त गुरु को सुना गए। गुरु परशुराम में बड़ी प्रसन्नता प्रकट की और सुमेधा का अभिनन्दन किया। फिर, उन्होंने सुमेधा को त्रिपुर सुन्दरी की उच्च दीक्षा दी और उसकी सम्पूर्ण चर्या विधि उन्हें बतला दी। फिर आशीर्वाद भी दिया कि तुम इस ज्ञान से ग्रन्थ का निर्माण भी करोगे।

सुमेधा का गोत्र नाम 'हरितायन' भी इस ग्रन्थ में मिलता है। वे वहाँ से 'हालास्य' नगर में मीनाक्षी देवी के स्थान में आये और वहाँ गुरु के बताये मार्ग से उपासना करने लगे। एक दिन ध्यान करते हुए उन्हें ऐसा भान हुआ कि एक श्वेत जटाधारी तपस्वी तेजोमय मूर्ति हाथ में वीणा लिए सामने खड़ी है। ऐसी दीप्त मूर्ति के दर्शन से चकित हो जब सुमेधा ऋषि ने आँखें खोली, तब ठीक उसी रूप में खड़े भगवान् नारद को देखा। प्रणिपात और स्वागताभिनन्दन करने के अनन्तर सुमेधा ने हाथ जोड़कर कहा कि आपका आज्ञा पीछे सुनूँगा, पहले मेरे सन्देह का निराकरण कीजिए कि जो स्वरूप मैं अपने भीतर देख रहा था, वही स्वरूप बाहर देख रहा हूँ, यह कैसे? आप मेरे भीतर कैसे प्रवेश कर गए थे? नारद हँसे। कहने लगे, तुम्हारा नाम तो सुमेधा है, बड़े उपासक प्रतीत हो रहे हो; किन्तु बात बालक जैसी करते हो। किसके भीतर और किसके बाहर की बात कर रहे हो? आत्मा के भीतर-बाहर अथवा शरीर के भीतर-बाहर? यदि आत्मा के भीतर-बाहर की बात करते हो, तो उससे बाहर तो कोई वस्तु है ही नहीं। वह तो 'विभु' अर्थात् सर्वव्यापक है। मैं उससे बाहर कैसे रह सकता हूँ। यदि शरीर के भीतर-बाहर की बात कर रहे हो, तो शरीर तो सात वितस्ति में परिच्छिन्न है और मैं महाकाश के आधार पर स्थित हूँ। फिर, यह सम्पूर्ण महाकाश उस छोटे-छोटे शरीर के भीतर कैसे अँट सकता है। शरीर के बाहर भी मुझे कोई कैसे देख सकता है; क्योंकि देखने के साधन इन्द्रियाँ हैं। वे शरीर के भीतर हैं। वे इन्द्रियाँ जड़ हैं। उनकी गति स्वत: बाहर हो नहीं सकती और बाहर के पदार्थ भी जड़ हैं। उसमें भी वह शक्ति नहीं जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म होकर उड़ सकें और भीतर प्रवेश कर सकें। अत: भीतर-बाहर यह तो

कल्पना मात्र है। इस कल्पना का आधार ग्रहण कर तुम बालक जैसा प्रश्न क्यों करते हो? मनुष्य तो भावनावश किसी चीज को बाहर-भीतर कहता है।

नारद भगवान् के इस प्रश्न का विचार दर्शनों में भी है और आधुनिक विज्ञान भी अपना युक्ति प्रयोग इस पर करता है। भारतीय दर्शनों में अधिकतर चक्षुरिन्द्रिय को बहिर्गामी माना गया है। बाहर जाकर द्रव्य का रूप आदि वह ग्रहण कर लेती है। इसीलिए, सांख्यशास्त्र में इन्द्रियों को भौतिक न कहकर अलङ्कार जन्य कहा गया है, जिससे उनमें विशिष्ट शक्ति निहित की गई है। किन्तु जब सभी लोग शरीर को भोग साधन मानते हैं, तब शरीर से बाहर जाकर इन्द्रियाँ अपना विषय ग्रहण कर सकें, यह कैसे सम्भव हो सकता है? यह ठीक है चक्षुरिन्द्रिय दूर तक चली जाती है; परन्तु शरीर सम्बन्ध के बिना वहाँ उसमें विषय ग्रहण का सामर्थ्य कहा से प्राप्त होता है? इसके अतिरिकत सभी दर्शन इन्द्रियों के विषय ग्रहण में मन की सहकारिता मानते हैं। मन के सहयोग के बिना इन्द्रियों से विषय ग्रहण सम्भव नहीं होता। तब क्या इन्द्रियों के साथ मन भी बाहर चला जाता है? यदि मन भी बाहर चला जाता है, तो फिर उतनी देर तक यह शरीर जीवित कैसे रहता है? ये सारी उलझनें पेचीदी हैं। आधुनिक विज्ञान कहता है कि बाहर के विषयों का चक्षु के धरातल रूप दर्पण पर प्रतिबिम्ब आ पड़ता है और अपने स्थान पर ही रहकर चक्षु उन विषयों को ग्रहण कर लेती है। तब प्रश्न उठता है कि पदार्थों की दूरी और समीपता का ग्रहण कैसे होता है, जिसकी उपपत्ति आधुनिक विज्ञान की ठीक-ठीक नहीं लगती। अस्तु;

उपर्युक्त प्रकार की दार्शनिक जटिलता में डालकर देवर्षि नारद ने अपने आगमन का प्रयोजन सुमेधा को बतलाया। उन्होंने कहा—"ब्रह्मा ने मुझे भेजा है। उन्होंने मेरे द्वारा तुम्हारे पास यह सन्देश भिजवाया है कि तुम '*त्रिपुरा रहस्य*' ग्रन्थ का निर्माण करो।" सुमेधा ने बड़े विनम्र शब्दों में कहा—"मैं तो कुछ नहीं जानता। ग्रन्थ मैं क्या लिखूँगा। गुरुजी ने तो जो कुछ भी बताया था, वह सारा ज्ञान विस्मृत हो गया। मेरी स्मृति ठीक नहीं है। मैं ग्रन्थ निर्माण कैसे कर सकता हूँ?" नारद ने पूछा—"भगवन्, त्रिपुरा भगवती की कृपा से सुमेधा ने तो प्राप्त कर ली। ऐसा भाग्यशाली होकर इसकी स्मृति शक्ति कैसे नष्ट हो गई?" ब्रह्मा ने बताया कि 'सरस्वती' नदी के तीर पर एक 'अलर्क' नाम के तपस्वी ब्राह्मण रहते थे। वे भगवती के अनन्य उपासक थे और उनकी स्त्री भी भगवती की भक्त थी। उनके यहाँ एक 'सुमन्तु' नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। वह पाँच वर्ष की अवस्था में ही बड़ी श्रद्धा से भगवती की आराधना करने लगा। एक दिन 'अलर्क' ने अपनी स्त्री को प्रेमपूर्वक आमन्त्रित करते हुए 'अयि' ऐसा कहा। बालक ने उसे 'ऐ' रूप में ग्रहण कर लिया। वह निरन्तर इस शब्द का उच्चारण करने लगा। छोटी अवस्था में ही उस बालक की मृत्यु हो गई। वही अब 'सुमेधा' के रूप से उत्पन्न हुआ है। वाग्बीज के प्रभाव से भगवती की इस पर अत्यन्त कृपा तो है; किन्तु ज्ञानपूर्वक इसने शुद्ध जप नहीं किया था। अत: स्मृति शक्ति नहीं है। मैं इसे स्मृति शक्ति दे देता हूँ, जिससे यह विद्वान् हो जाएगा और '*त्रिपुरा रहस्य*' ग्रन्थ का निर्माण कर सकेगा। चलते समय ब्रह्मा ने सुमेधा को आदेश दिया कि तुम नित्य चार-चार अध्याय की रचना करना और ३६ दिनों में ग्रन्थ समाप्त कर देना। प्रतिदिन जो रचोगे, उसे नारद को सुनाते

जाओगे। नारद इतने समय तक तुम्हारे समीप रहेंगे। इस प्रकार यह आदेश देकर ब्रह्मा अन्तर्हित हो गए और नारद भी चले गये। दूसरे दिन फिर नारद आये और उस दिन से ही सुमेधा ने ग्रन्थ का निर्माण आरम्भ किया। इसने प्रतिदिन ब्रह्मा के आदेशानुसार चार-चार अध्याय के क्रम से ३६ दिनों में ग्रन्थ परिपूर्ण कर दिया।

सुमेधा ने परशुराम और दत्तात्रेय भगवान् के संवाद के रूप में इस ग्रन्थ का निर्माण किया है। जब परशुराम भगवान् ने श्रीजगदम्बिका का स्वरूप पूछा, तब दत्तात्रेय ने यही बताया कि त्रिपुरा भगवती परतत्त्व रूप हैं। उनका स्वरूप मन और वाणी के अगोचर है। उस स्वरूप को तो ब्रह्मा और विष्णु भी कह और जान नहीं सकते। किन्तु, समय-समय जो उनके अवतार हुए हैं, उनके ही चरित्र मैं तुम्हें सुनाऊंगा। उनसे तुम त्रिपुरा माहात्म्य जान सकोगे। हमारे सभी शास्त्रों के परतत्त्व के जानने की प्रक्रिया अवतार द्वारा ही सम्पादित की गई है। अवतारवाद आर्यशास्त्रों का एक मुख्य विषय है। इसके बिना परतत्त्व के समझने का कोई उपाय नहीं है। श्रीभागवत में अवतार का दूसरा शब्द 'आविर्भाव' लिखा है। जब वह परतत्त्व, भगवान् या भगवती आविर्भूत होते हैं, तब मनुष्य उसे जान सकता है। *भागवत* में यह जगत् ही भगवान् का पहला अवतार या आविर्भाव बताया गया है। इसके अन्तर्गत भिन्न-भिन्न कार्य साधनार्थ भिन्न-भिन्न शक्तियों को लेकर परतत्त्व के आविर्भाव समय-समय होते रहते हैं। फिर, उनके नाम, रूप, लीला और धाम से ही परिचय प्राप्त कर भाग्यशाली मनुष्य परतत्त्व की उपासना द्वारा सिद्धि प्राप्त करते हैं।

दत्तात्रेय भगवान् ने त्रिपुरा भगवती का पहला कुमारी अवतार बताया है। उसके चरित्र के सम्बन्ध में कहा है कि जिस समय भगवान् विष्णु शेषशय्या पर क्षीरसमुद्र में शयन कर रहे थे और ब्रह्मा भी उनके समीप सेवा में उपस्थित हुए थे तथा भगवान् की आँखें खुलने पर, जिस समय ब्रह्मा को कुछ उपदेश हो रहा था, उसी समय इन्द्र आदि बहुत-से देवता बड़े परिश्रान्त रूप में घबराये हुए वहाँ आये। सभी देवगण प्रणाम कर विष्णु के आदेशानुसार उनके समक्ष बैठ गए। फिर, विष्णु के प्रश्न पर उन्होंने अपने आगमन का कारण यह बताया कि हम लोगों में परस्पर बहुत विवाद छिड़ा हुआ है और उसके कारण बहुत अशान्ति हो रही है। उस विवाद को मिटाने के लिए ही आपकी सेवा में हम सब उपस्थित हुए हैं। इन्द्र ने कहा कि एक दिन जब मैं देवसभा में बैठा देवताओं को अपना माहात्म्य बता रहा था कि मैं सब देवताओं का राजा हूँ, मुझे पूरी शक्ति और सर्वज्ञता प्राप्त है, मेरे शासन में ही आप लोगों को सदा रहना चाहिए, तब बीच में ही अग्नि ने खड़े होकर कहा कि आपका यह अभिमान सत्य नहीं। सबसे बड़ी शक्ति तो मुझे प्राप्त है कि मैं समस्त वस्तुओं को क्षण भर में नष्ट कर सकता हूँ। मैं ही सब पार्थिव पदार्थों को बनाता हूँ और मैं ही बिगाड़ता हूँ। इसलिए, सबसे श्रेष्ठ तो मुझे मानना चाहिए। अग्नि अपना महत्त्व कह ही रहे थे कि बीच में सोम बोल उठे कि नहीं, तुम्हारा जीवन तो मेरे ही आधार पर है। यदि मैं तुम्हें भोजन नहीं दूँ तो तुम कभी का समाप्त हो जाओ। जगत् के सम्पूर्ण तत्त्व तो मेरे ही परिणामभूत हैं। हमारे बिना किसी पदार्थ की सृष्टि नहीं हो सकती। तुम तो केवल मेरे अङ्गों की, भिन्न-भिन्न रूप में, व्यवस्था मात्र करते हो। तुम तो मेरा अनुयायी हो। इसलिए सबसे श्रेष्ठ तो मैं हूँ। इसी बीच वायु बोल उठे कि तुम सब वृथा अभिमान कर रहे हो। मेरे समान शक्ति तो किसी में भी नहीं। मैं एक निमेष के लिए भी अपनी गति बन्द कर दूँ, तो संसार के सब प्राणी मरणासन्न हो जाएँ। जड़ पदार्थों को भी मैं जहाँ चाहूँ,

उड़ा ले जा सकता हूँ। वृष्टि आदि तो मेरे ही कारण होती है। अग्नि मेरी सहायता के बिना नहीं जल सकते। सोम का अवयव सन्निवेश भी मैं ही बनाता हूँ। इसलिए सबसे श्रेष्ठ तो मैं ही हूँ। हे प्रभो! इस प्रकार, हम लोगों में विवाद उठ खड़ा हुआ और वह किसी प्रकार शान्त नहीं हो रहा है। यदि यह विवाद बढ़कर परस्पर संघर्ष का रूप धारण कर लेगा, तो जगच्चक्र का परिचालन असम्भव हो जाएगा। अत:, आपकी सेवा में हम सब उपस्थित हैं कि वस्तुस्थिति को स्पष्ट करके हमारा विवाद शान्त कर दें।

इन्द्र की बात सुनकर विष्णु मुस्कराये और एक बार ब्रह्मा की ओर देखा और उन्होंने ब्रह्मा से कहा कि इन्हें मुख्य तत्त्व का आप उपदेश कर दें। किन्तु, ब्रह्मा ने निवेदन किया कि भगवन्, इन अभिमान ग्रस्तों को समझाना मेरी शक्ति के बाहर है। आप ही कृपाकर इन्हें मुख्य तत्त्व का उपदेश दे सकते हैं। विष्णु ने कहा कि परतत्त्व का उपदेश तो मैं भी नहीं कर सकता। मैं भगवान् शङ्कर का स्मरण करता हूँ। वे ही यहाँ आकर अपने उपदेश द्वारा इनका विवाद शान्त कर सकेंगे। भगवान् विष्णु आदि के स्मरण करने पर शङ्कर भगवान् वहाँ पधारे। अभ्युत्थान और कुशल स्वागत के अनन्तर सब वृत्तान्त सुनकर भगवान् शङ्कर ने कहा कि इन देवताओं को जगदम्बा ने मोहित किया है। उस भगवती की कृपा के बिना इनका मोह शान्त नहीं हो सकता, इसलिए उचित है कि हम सब मिलकर भगवती का ध्यान और स्तुति करें। वही कृपा कर प्रादुर्भूत होंगी और इनका मोह दूर करेंगी। जब ब्रह्मा, विष्णु और महेश ध्यानमग्न भगवती की स्तुति करने लगे, तब अकस्मात् घोर महाभयानक शब्द हुआ। उस भयानक शब्द से वहाँ पर बैठे सभी देवता मूर्च्छित प्राय हो गए और ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश खड़े होकर स्तुति करने लगे। चैतन्य लाभ होने पर देवताओं ने देखा कि एक तेजोमय, किन्तु सौम्य मूर्ति दूर स्थित दिखाई दे रही है। उन्हें उस दिव्य रूप का तत्त्व कुछ समझ में नहीं आ रहा था कि यह क्या अद्भुत वस्तु है। देवताओं ने परामर्श कर पहले अग्नि को भेजा कि तुम जाकर इस रूप का ज्ञान प्राप्त करो कि यह क्या है। अग्नि ने समीप जाकर जब उस अद्भुत मूर्ति से पूछा कि आप कौन हैं, तब वहाँ से शब्द हुआ कि पहले तुम अपना परिचय दो और बतलाओ कि क्या शक्ति रखते हो। अग्नि ने बड़े अभिमान से कहा—"मैं सबका प्राणरूप, सब वस्तुओं में रहने वाला अग्नि हूँ। मुझमें इतनी शक्ति है कि मैं क्षणमात्र में सम्पूर्ण जगत् को भस्म कर सकता हूँ।" इस पर उस मूर्ति ने एक तिनका (तृण) उनके सामने रखा और कहा कि पहले इसे भस्म करके दिखाओ। अग्नि ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति उस तृण पर लगा दी, किन्तु उसे न जला सके। वे बिल्कुल निस्तेज होकर लौट आये। उन्होंने अन्य देवताओं से कहा कि मैं इस अद्भुत तत्त्व को नहीं पहचान सका। अब आप लोग यत्न कीजिए। तत्पश्चात् सोम, वायु आदि गए पर वे भी उस तृण को न तो गीला कर सके, न उड़ा सके। अन्त में, इन्द्र अपने विविध आयुधों से सुसज्जित होकर उस आश्चर्यमय रूप के सामने पहुँचे। इन्द्र का वज्र भी उस तृण का कुछ नहीं बिगाड़ सका और इन्द्र निस्तेज हो गए। सभी के हतप्रभ हो जाने पर और उनके द्वारा बहुत स्तुति प्रार्थना करने पर, उस महातेज से एक सौम्य मूर्ति प्रकट हुई। उस मूर्ति ने इन्द्र को समझाया कि तुम किसी में भी शक्ति नहीं है। समस्त शक्तियाँ मेरी दी हुई हैं। तुम लोग वृथा बड़प्पन का अभिमान मत करो और जिस-जिस कार्य में नियुक्त हो, उसका सम्पादन ठीक प्रकार से करते रहो, इसी से तुम्हें सिद्धि प्राप्त होगी। तत्पश्चात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि को भी दर्शन, आशीर्वाद, वर

आदि देकर वह मूर्ति अन्तर्हित हो गई। अन्त में, दत्तात्रेय ने कहा कि यह कुमारिका अवतार था, जो देवताओं के अभिमान को नष्ट करने के लिए हुआ था।

यह कथा *केनोपनिषद्* में भी आई है। थोड़ा भेद कथा प्रक्रिया में है। यहाँ उमा हैमवती का दर्शन होना लिखा है और उसमें इन्द्र को ब्रह्म ज्ञान कराया गया है। कुल मिलाकर तात्पर्य यही है कि मुख्य 'परतत्त्व' ही सर्वशक्तिमान् है और सभी शक्ति स्रोत यहीं से फूटता है। उस मूल तत्त्व को न पहचान कर अपनी शक्ति का अभिमान करने वालों की इसी प्रकार दुर्गति होती है। भगवती की अवरशक्ति माया है, जिसके परिणामभूत हम लोगों के अन्त:करण द्वारा निर्मित वासना ज्ञान है। उस छोटे-से तृण रूप वासना ज्ञान को न तो अग्नि जला सकती है और न वायु उड़ा सकता है। वह भगवती की कृपा से ही परम ज्ञान का उदय होने पर हट सकता है। इसी दृष्टान्त से समझ लीजिए कि सबकी शक्ति परिमित है। अनन्त शक्ति तो भगवती की ही है।

इस प्रकार '*त्रिपुरा रहस्य*' में अनेक अवतारों का वर्णन करने के बाद भगवती 'ललिता' का अवतार लिखा गया हे। 'तन्त्रशास्त्र' में ललिता की उपासना बहुत मुख्य मानी गई है। सभी सम्प्रदायों में यह उपास्य है। वैष्णव भी राधा की सखी कहकर 'ललिता' की उपासना करते हैं। इसका रहस्य बड़ा अद्भुत है। इस '*त्रिपुरा रहस्य*' ग्रन्थ में भी इस अवतार का बहुत विस्तार से वर्णन है। प्राय: इसी अवतार के वर्णन में यह ग्रन्थ पूर्ण हो गया है। इसे एक नवीन शक्ति का प्रादुर्भाव कहकर यहाँ 'ललिता' का वर्णन हुआ है और त्रिपुरा भगवती का ही एक रूप ललिता को माना गया है। विभाण्डक दैत्य के वध के लिए इसका अवतार हुआ। विभाण्डक की उत्पत्ति का भी इसमें विस्तृत वर्णन है।

विभाण्डक ने जब शङ्कर का घोर तप किया और शङ्कर जब वरदान देने के लिए पधारे, तब उसने अजर-अमर बन जाने का वर माँगा। शङ्कर ने कहा कि मूल तत्त्व ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई अजर अमर नहीं हो सकता। इस असम्भव वर को मत माँगो, दूसरा कोई वर ले लो। किन्तु, विभाण्डक ने और कोई वर स्वीकार नहीं किया और निरन्तर तप ही करता गया। उसकी अत्यन्त उग्र तपस्या से जब त्रिलोकी भस्म होने लगी, तब देवताओं की प्रार्थना पर पुन: शङ्कर भगवान् उसके पास पधारे और बहुत समझा-बुझाकर उसे यह वर लेने पर राजी किया कि वर्तमान में जितनी शक्तियाँ हैं या जितने शस्त्रास्त्र हैं, उनसे वह नहीं मरेगा। इस प्रकार का वरदान प्राप्त कर उसने सभी देवताओं को परास्त किया। उसके युद्धों का इस ग्रन्थ में अति विस्तृत वर्णन है। अन्त में, देवताओं की प्रचुर प्रार्थना पर भगवती त्रिपुरा ने एक शक्ति के रूप में अपने को प्रकट किया और नये शस्त्र की रचना से ही इसका वध किया। इस ललितावतार का वर्णन '*त्रिपुरा रहस्य*' ग्रन्थ में विस्तृत रूप से है और इसकी स्तुति प्रार्थना आदि भी अति रहस्यमय और अति विस्तृत है।

त्रिपुरा रहस्य (भूमिका) से साभार।

❑

अजपा–साधन–रहस्य

महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ जी कविराज

बहुत प्राचीन समय से ही आध्यात्मिक साधनों में जप की महिमा ने साधक सम्प्रदाय में प्रसिद्धि पाई है। वास्तव में सब प्रकार के आध्यात्मिक कर्म में जप का स्थान बहुत ऊँचा है। यज्ञ तरह–तरह के हैं और प्रत्येक यज्ञ के ही एक–एक विशेष फल का निर्देश भी है। लेकिन जप यज्ञ का माहात्म्य अन्य यज्ञों से बहुत अधिक है। *श्रीमद्भगवद्गीता* में यह स्पष्ट रूप से वर्णित है। वर्तमान सन्दर्भ में जप का तत्त्व और फलाफल आलोचना का विषय नहीं है, पर जप साधना का जो चरम लक्ष्य है, उस अजपा जप के सम्बन्ध में महाजनों के पदाङ्क का अनुसरण करते हुए अपने अनुभव तथा बुद्धि के अनुसार यथासम्भव सङ्क्षेप में कुछ बातें कहने की चेष्टा करेंगे। जप के वास्तविक विज्ञान को नहीं जानते हुए भी जप के बारे में कमोबेश सामान्य ज्ञान बहुत–से साधकों को है। परन्तु अजपा के सम्बन्ध में साधारणत: बहुतेरे ही लोग विशेष कुछ नहीं जानते। स्त्री और पुरुष, बालक और वृद्ध, भावुक और भावहीन—सभी अधिकारियों के लिए ही अजपा साधन की उपयोगिता है। विभिन्न युगों में, विभिन्न सम्प्रदायों में यह साधना विभिन्न नामों से परिचित रही है। आध्यात्मिक साधना के क्रमिक इतिहास की आलोचना करने से यह साफ ही समझ में आता है।

एक ओर से देखने पर यह जो अत्यन्त ही सरल साधना है, इसमें कोई सन्देह नहीं। सच पूछिए तो कोई भी साधना इससे सरल नहीं हो सकती। मनुष्य के देह धारण के बाद से ही अर्थात् माता के गर्भ से भूमिष्ठ होने के समय से प्रयाण काल तक, पूरे जीवन में जो स्वाभाविक श्वास–प्रश्वास की क्रिया चलती है, उसको मूल भित्ति करके अजपा साधन अनुष्ठित होता है। इसके लिए कोई खास उपकरण, कोई कृत्रिम प्रक्रिया, कोई विशेष अनुशासन आवश्यक नहीं होता। जानते और अनजाने, सभी समय श्वास–प्रश्वास जैसे चलता रहता है, श्वास–प्रश्वास से संश्लिष्ट अजपा क्रिया भी वैसे ही जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—सभी समय समान रूप से चलती रहती है। यह क्रिया आरब्ध होने पर यह चेष्टा या मनोयोग की अपेक्षा किए बिना अपने आप निरन्तर चलती रहती है। अतएव एक प्रकार से यह जो बहुत ही सरल साधन है, यह समझने में कष्ट नहीं होता। परन्तु सरल होते हुए भी यह साधन बहुत निगूढ़ है और इसका विज्ञान एक गम्भीर रहस्य है। इसका फल दूसरी कृत्रिम साधना जैसा नहीं। निष्क्रिय परम सत्ता के हृदय को आश्रय करके जो क्रिया विश्व में निरन्तर चलती है, मनुष्य देह में अजपा उसी की प्रतिच्छाया भर है। यह स्वभाव की साधना है। प्रकृति में व्यष्टि भूमि और समष्टि में समान रूप से इसका प्रभाव देखने में आता है। अजपा विज्ञान को ठीक से समझ सकने से तत्त्व ज्ञान का पूर्ण उदय अवश्यम्भावी है। यह साधना जैसी स्वाभाविक है, इसका फल भी वैसा ही स्वाभाविक है अर्थात् स्वभाव में स्थिति लाभ।

बहुत प्राचीनकाल में भगवान् बुद्धदेव ने 'आनापानसत्ति' नाम से जिस साधना को अपने अन्तरङ्ग भक्तों के बीच प्रसारित किया था, वह अजपा साधन का ही एक अङ्ग मात्र लगती है। बाद के बौद्ध आचार्यों ने बहुत स्थानों में इसकी चर्चा की है और विस्तारपूर्वक इसका विश्लेषण भी किया है। गोरक्षनाथ तथा दूसरे नाथ योगिगण अजपा साधन की महिमा को जानते थे—इस साधन में सिद्धिलाभ करके उन्होंने मुक्त कण्ठ से इसकी महिमा को उद्घोषित किया है। नाथ सम्प्रदाय के साहित्य में बहुत स्थलों में अजपा साधन के माहात्म्य का भूरि-भूरि प्रमाण मौजूद है। किंवदन्ती है कि महायोगी नानक साहब ने राजा शिवनाथ को अपने अधिकार के अनुरूप कई उपदेश दिए थे। इस उपदेश परम्परा में पहलो राम नाम, उसके बाद प्रणव और सबसे अन्त में हंस रूप अजपा मन्त्र का उल्लेख पाया जाता है। अजपा गायत्री, हंसविद्या, आत्ममन्त्र, प्राणयज्ञ[१] आदि विविध नामों से वैदिक, पौराणिक और तान्त्रिक साहित्य में यह साधन निर्दिष्ट हुआ है।

किन्हीं किन्हीं का ख्याल है, महाप्रभु चैतन्यदेव ने राय रामानन्द, स्वरूप दामोदर, शिखि माइती तथा उनकी बहन माधवी को, यानी अपने साढ़े तीन अन्तरङ्ग भक्तों को इस साधना का गुह्य उपदेश दिया था। सन्त कबीर, महात्मा तुलसीदास आदि महाजनों की सिद्धि के मूल में इस साधना का अनुष्ठान मौजूद है—साधक-सम्प्रदाय में यह सुप्रसिद्ध है। वर्तमान युग में भी योगी गम्भीरनाथ, महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी, महात्मा राम ठाकुर आदि विशिष्ट साधकों ने इस साधन की महिमा स्थापित की है। श्वास-प्रशवास से साधन कर पाने से जिस सहज उपाय से अत्यन्त दुर्लभ महातत्त्व का उन्मीलन होता है, उसे ये लोग बहुत स्थानों में प्रकट कर गए हैं। इनके भक्तों और शिष्यों ने भी अजपा साधन के माहात्म्य के सम्बन्ध में बहुत-सी बातों का प्रचार किया है। सिद्ध जीवनीकार स्वामी ब्रह्मानन्द ने वारदी के ब्रह्मचारी महायोगी लोकनाथ से इस साधन का उपदेश पाया था। इस सम्बन्ध में ज्यादा लिखना बेकार है।

यह साधन अनादिकाल से ही प्रचलित है। सदाशिव, ब्रह्मा, नारद, वशिष्ठ, ध्रुव, प्रह्लाद आदि ने भी यह साधन प्राप्त किया था—साधक-समाज में ऐसा प्रवाद है। वास्तव में तो अन्यान्य सभी प्रकार के साधनों की तरह इस साधन के भी आदिगुरु श्रीभगवान् स्वयं हैं—इस सम्बन्ध में सन्देह की जरा भी गुञ्जाइश नहीं।

(२)

शिशु जब माता के गर्भ से बाहर आता है और जब उसका नाड़ीच्छेद होता है, उसी समय से उसके शरीर में श्वास-प्रश्वास की क्रिया देखी जाती है। माता के गर्भ में रहते समय गर्भधारिणी जननी से अलग शिशु का श्वास-प्रश्वास नहीं रहता। गर्भस्थ शिशु माँ के द्वारा लिए गए खाद्य से ही पुष्टि लाभ करता है और माँ के श्वास-प्रश्वास से ही उसकी देह का विकास होता है। परन्तु प्रसव के साथ-ही-साथ वैष्णवी माया उसे आक्रान्त करती है तथा वास्तव में उसी समय से वह काल राज्य में वास करना शुरू करता है। शिशु का जो

१. *गीता* के चतुर्थ अध्याय में 'अपाने जुह्वति प्राणम्' आदि वर्णन मिलता है। यही प्राण यज्ञ का स्वरूप है। श्रीधर स्वामी ने अपनी टीका में अजपा साधन कहकर इसकी व्याख्या की है और कहा है कि तत् पदार्थ और त्वं पदार्थ की ऐक्य भावना ही अजपा साधन का रहस्य है।

पहला श्वास लेना है, उसका नाम जन्म है और उस साँस का अन्तिम त्याग ही मरण के नाम से प्रसिद्ध है। जन्म से मृत्यु के बीच की अवस्था उसका जीवन है। इसीलिए मनुष्य का पूरा जीवन ही श्वास-प्रश्वासमय है। आत्म विस्मृत अवस्था में मनुष्य श्वास-प्रश्वास के अधीन रहता है और काल की प्रेरणा से निरन्तर इडा तथा पिङ्गला नामक बाएँ और दाएँ मार्ग सञ्चरण करता रहता है। मूल में अविद्या का आवरण रूप परदा नहीं रहने से विक्षेप रूप श्वास-प्रश्वास की क्रिया नहीं रहती। वास्तव में तो श्वास-प्रश्वास काल का ही खेल है। हम लोग जिसे जीवन कहते हैं, वह काल या मृत्यु के ही अपने प्रकाश की महिमा है।

योगी कहते हैं, योग के पथ में नौ मुख्य अन्तराय हैं—ये सब चित्त के विक्षेप हैं। चित्त के विक्षेप के साथ-साथ ये मौजूद रहते हैं। इन नौ मुख्य अन्तरायों के नाम हैं—व्याधि, स्त्यान या चित्त की अकर्मण्यता, संशय, प्रमाद या समाधि साधन के अनुष्ठान का अभाव, भ्रान्तिज्ञान या मिथ्याज्ञान, समाधि की भूमि का प्राप्त नहीं होना और भूमि पाकर भी उसमें प्रतिष्ठित नहीं हो सकना। दुःख, इच्छा की अपूर्णता के कारण चित्त का क्षोभ, देह का कम्पन और श्वास-प्रश्वास—ये सब पूर्व वर्णित मुख्य अन्तराय के आनुषङ्गिक सहकारी हैं।

इस विवरण से समझ में आएगा कि श्वास-प्रश्वास मूल रोग नहीं, रोग के उपसर्ग मात्र हैं। मूल रोग के जप के साथ-साथ श्वास-प्रश्वास भी आयत्त होता है। श्वास-प्रश्वास का मूल चित्त का विक्षेप है और विक्षेप का मूल प्रत्यक् चैतन्य की अनुपलब्धि यानी साक्षात्कारात्मक ज्ञान का अभाव है। जिस उपाय से प्रत्यगात्मा का साक्षात्कार होता है, उसी के प्रभाव से श्वास-प्रश्वास रूप काल का खेल भी शान्त हो जाता है। प्रणव जप और प्रणव वाच्य ईश्वर की भावना को योगियों ने आत्मज्ञान लाभ का मुख्य हेतु मानकर स्वीकार किया है। प्रणव जप के रहस्य को जानने से समझ में आता है कि अजपा जप ही श्रेष्ठ जप है तथा दूसरे सारे ही जप चरम स्थिति में अजपा जप में ही पर्यवसित होते हैं। यही मनुष्य का स्वाभाविक जप है।

(३)

एक अहोरात्र में मनुष्य के स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास की संख्या २१,६०० मानी जाती है। अवस्था भेद से इसमें कुछ हेर-फेर होने पर भी यही साधारण नियम है। श्वास 'हं' ध्वनि करते-करते बाहर हो जाता है—इसका नाम प्रश्वास है, और यह फिर भीतर आता है 'सः' ध्वनि करते-करते—इसका नाम निःश्वास है।[१]

---

१. **हंकारेण बहिर्याति सःकारेण विशेत् पुनः** यही साधारण मत है। पर राम प्रसाद के गीत में है—

'हं' वर्ण पुरके हय, 'सः' वर्ण रेचके रय

अहर्निशि करे जप हंस हंस बलिया।

यह अशास्त्रीय बात नहीं, बल्कि विरुद्ध बात है। क्योंकि श्रीधर स्वामी की *गीता टीका* (4/30) में उद्धृत योगशास्त्र के वचन में और योगबीज में (131) है कि 'सः' ध्वनि के साथ निर्गम और 'हं' ध्वनि के साथ प्रवेश होता है। जीव सदा हंसः मन्त्र का जप करता है। इसके बाद योगबीज में है—

योगिगण कहते हैं, जीव श्वास-प्रश्वास के बहाने निरन्तर इस हंस मन्त्र का या अजपा गायत्री का जप करता है। जीवमात्र ही यह करता है, लिहाजा मनुष्य भी करते हैं, यह कहना ही फिजूल है। परन्तु इतर जीव से मनुष्य का अन्तर यह है कि मनुष्य अपने पुरुषकार के द्वारा ऐसा सामर्थ्य अर्जित कर सकता है, जिसके कारण श्वास-प्रश्वास की इस स्वाभाविक गति में विपर्यय सम्भव होता है। अर्थात् मनुष्य साधन के बल से 'हंस:' गति को 'सोऽहं' गति में बदल सकता है। ऐसे में आत्म ज्ञान का रास्ता खुल जाता है तथा इड़ा-पिङ्गला में प्रवाहशील वायु की वक्रगति सुषुम्णा में सरल गति में बदल जाती है। सुषुम्णा ब्रह्म मार्ग है। इड़ा-पिङ्गला मार्ग से आकृष्ट होकर वायु जिस परिमाण में सुषुम्णा में प्रवेश करती है, उसी परिमाण में विकल्प का उपशम होता है और निर्विकल्प आत्मज्ञान का बन्द द्वार धीरे-धीरे खुलना शुरू करता है। सुषुम्णा में प्रवेश किए बिना वायु तथा मन की ऊर्ध्व गति सम्भव नहीं होती तथा ऊर्ध्व गति के बिना विकार त्याग कर चित्त साम्य भाव में स्थिति लाभ नहीं कर सकता। योगिगण जिसे कुम्भक कहते हैं, वह क्रमश: इस ऊर्ध्व गति के फलस्वरूप सिद्ध होता है। कुम्भक में वास्तव में गति नहीं होती, ऐसी बात नहीं। किन्तु वक्रगति छूटकर अन्तर्मुखी सरल गति की सूचना होती है। इन गतियों से अन्त में गतिहीन अवस्था का आभास मिलता है। जागतिक भाषा में हम जिसे प्राण अपान का व्यापार कहते हैं, उसे ही योगी की भाषा में हंस मन्त्र का उच्चारण समझना होगा।

इस प्रकार विषम गति के कारण के अनुसन्धान से यह जाना जाता है कि प्रकृति में ही इस वैषम्य का बीज निहित है। प्राण अपान को और अपान प्राण को निरन्तर खींच रहा है, परन्तु दोनों की स्वाभाविक गति परस्पर विरुद्ध है। प्राण जिधर सञ्चारित होता है, अपान उसकी विपरीत दिशा में सञ्चारित होता है। यदि वे अन्य निरपेक्ष होते तो विरोध की कोई सम्भावना नहीं रहती, लेकिन ऐसा नहीं है। अपान के बिना प्राण का नहीं चलता, इसीलिए प्राण अपान को चाहता है, उसे खींचता है, यद्यपि अपान विरुद्धवाही है। उसी प्रकार प्राण के बिना अपान का नहीं चलता, इसलिए अपान प्राण को खींचता है। इससे यह बात साफ समझ में आती है कि वास्तविक साम्य अवस्था से च्युत होकर ही दोनों में विरुद्ध गति का उदय हुआ है। इसीलिए प्राण और अपान विरुद्ध सञ्चारी होकर भी अविरुद्ध साम्यभाव में ही फिर से प्रतिष्ठित होना चाहता है। जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक शान्ति की सम्भावना नहीं। बद्ध जीव इन दो खिंचावों में पड़कर एक बार उठता

गुरुवाक्यात् सुषुम्णायां विपरीतो भवेत् जप:।
सोऽहं सोऽहं इति प्राप्तो मन्त्रयोग: स उच्यते।।

है, एक बार गिरता है, वाम और दक्षिण पथ में सञ्चरण करता है—इसमें विश्राम नहीं। योगी का लक्ष्य है इन दो विरुद्ध गतियों में समन्वय साधन करना।

इस वैषम्यमयी गति की दो दिशाएँ हैं। एक देहगत, दूसरी कालगत। श्वास नासापुट से बाहर की ओर प्रवाहित होता है और बाहर से वह भीतर की ओर लौटता है। इस बहिर्गति की एक सीमा है। साधारण अवस्था में नासापुट से बाहर बारह अङ्गुल तक यह बाह्य गति लक्षित होती है। आगन्तुक[१] कारण विशेष से कभी एक ही व्यक्ति की श्वास गति में गति का कुछ तारतम्य होता है। उसी प्रकार प्रकृति के वैचित्र्य के कारण विभिन्न व्यक्तियों में श्वास की गति में भी कुछ-कुछ भेद रहता है। गति का विस्तार जितना अधिक होगा, बहिर्मुखता और काल का प्रभाव भी उतना ही अधिक समझना होगा। संयत जीवन के अभ्यास से इस गति का क्रमश: ह्रास होता रहता है। यह देहगत विषम गति का विवरण है।

कालगत वैषम्य दूसरे प्रकार का है। एक निर्दिष्ट काल की श्वास संख्या से इस वैषम्य का परिचय मिलता है। श्वास से यहाँ पूरक और रेचक—दोनों ही समझना होगा। साधारण तथा संसारी स्वस्थ मनुष्य को पन्द्रह श्वासोच्छ्वास होता है, ऐसा माना जाता है। लेकिन यहाँ भी आगन्तुक कारणवश और प्रकृति भेद से इसमें कुछ विलक्षणता नजर आती है। वह नगण्य है। संयम और अभ्यास से यह संख्या भी धीरे-धीरे कम होती है। यह श्वास गति के काल की दिशा हुई। कहना बाहुल्य है, श्वास की बाह्य उन्मुखता और संख्या में परस्पर सम्बन्ध है। साधारणत: बाह्य गति बारह अङ्गुल होने से संख्या पन्द्रह होती है, ऐसा माना जाता है। योगाभ्यास या विशेष शक्ति के प्रभाव से बाह्य गति कम होने से संख्या भी उसके अनुपात से कम होती है। अर्थात् श्वास का देश सम्बन्ध और काल सम्बन्ध समान रूप से एक ही साथ शिथिलता प्राप्त करता है। बाह्य गति एक अङ्गुल घटने से संख्या सवा घटती है, दो अङ्गुल घटने से संख्या घटती है ढाई। अन्त में जब बाह्य गति का बारहों अङ्गुल शून्य में परिणत होता है, तो संख्या भी पन्द्रह से शून्य में पर्यवसित होती है। मतलब कि श्वास का देशगत और कालगत सम्बन्ध एक ही समय में विच्छिन्न होता है। इस अवस्था में श्वास का स्थूल सञ्चार रुद्ध होता है और रेचक-पूरक रूप व्यापार शान्त होता है। इसी का नाम है कुम्भक, जिससे पूर्ण समाधान का मार्ग खुलता है। यह समाधान ही स्थिति है। तभी पूर्व वर्णित विक्षेप का उपशम होता है, उससे पहले नहीं।

प्राण की बाह्य गति या संख्या के न्यून होने के साथ-साथ तरह-तरह की अलौकिक शक्तियों का विकास होता है। पहले कामना का त्याग होता है। प्राण की चञ्चलता से ही वासना पैदा होती है। प्राण का

---

१. कहा गया है, भोजन और बात करने में बहिर्गति की वृद्धि छह से बारह अङ्गुल होती है, गमन में वृद्धि होती है बारह से चौबीस अङ्गुल। तेजी से दौड़ने पर तीस से बयालीस अङ्गुल तक वृद्धि होती है। सबसे अधिक वृद्धि होती है स्त्री सङ्ग से—तिरपन से पैंसठ अङ्गुल।

शान्त होना आरम्भ होते ही चित्त में धीरे-धीरे निष्काम भाव आता है। निष्काम भाव की अभिव्यक्ति के बाद आनन्द की अभिव्यक्ति स्वभाव सिद्ध है। *गीता* में श्रीभगवान् ने कहा है—**अशान्तस्य कुतः सुखम्।** शान्ति के उदय के बिना वास्तविक सुख का आविर्भाव नहीं होता। इसके बाद वाक्सिद्धि, दूरदृष्टि, आकाशगमन, यहाँ तक कि निर्वाण तक आयत्त होता है। यही शास्त्र का सिद्धान्त है।

साधना का उद्देश्य प्राण की बाह्य गति का उपशम है। जैसी चिन्ता और आचरण से बाह्य गति की वृद्धि होती है, साधना के क्षेत्र में वह वर्जनीय है। कम-से-कम इन सब विषयों में संयम का अभ्यास जरूरी है।

(४)

अजपा साधन तत्त्व और प्रक्रिया के सम्बन्ध में महाजनों ने गुरु परम्परा अनुसृत पद्धति के वशवर्ती होकर विभिन्न दृष्टिकोण से विभिन्न प्रकार का विवरण प्रकाशित किया है। साधक की योग्यता और अधिकार गत विशिष्टता की दृष्टि से विचार करने में समझ में आता है कि इनमें से प्रत्येक की सार्थकता है।

अजपा कुण्डलिनी से उद्भूत प्राण धारिणी प्राण विद्या रूप में योगी समाज में परिचित है। बाज जैसे ऊपर आसमान में उड़ता हुआ होने पर भी गुणबद्ध रहने से नीचे पृथ्वी की ओर आकृष्ट होता है, वैसे ही प्राण और अपान की क्रिया के वशीभूत जीव ऊपर और नीचे की ओर गति लाभ करता है। कोई-कोई आचार्य कहते हैं, 'तत्' पदवाच्य परमात्मा हंस विद्या के प्रथम अवयव 'हं'कार द्वारा वर्णित होते हैं और 'त्वं' पदवाच्य प्रत्यक् चैतन्य अथवा खेचरी बीज द्वितीय अवयव 'सः'कार द्वारा द्योतित होता है। प्राणिमात्र के हृदय में जो अव्याकृत आकाश है, उसमें लिङ्गशरीर विद्यमान है। उसके प्रतिलोक भाव से हंस की गति होती है। शास्त्र में है—**सःकारो ध्यायते जन्तुर्हंकारो जायते ध्रुवम्।** 'सः' अथवा जीव अपना जीवत्व परिहार करे, तो सोऽहं शब्द का लक्ष्य प्रत्यक् आत्मा से अभिन्न परमात्मा के सिवाय दूसरा कुछ नहीं। जो साधक अपनी आत्मा का हनन करता है, उसके लिए 'हं'कारात्मक परमात्म भाव का पाना सुलभ होता है।

दूसरे मत से, हंस कहने से प्रत्यक् आत्मा अथवा व्यष्टि तुरीय समझना होगा और परमहंस शब्द से परमात्मा अथवा समष्टि तुरीय का बोध होता है। व्यष्टि तुरीय और समष्टि तुरीय के आपस में मिल जाने से हंस योग निष्पन्न होता है। यही अजपा का तत्त्व है।

तीसरे मत से, साधक की प्रज्ञा और साधन शक्ति के तारतम्य के अनुसार अजपा तत्त्व के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की दृष्टि अङ्गीकृत होती है। मन्द प्रज्ञ, मध्य प्रज्ञ, और उत्तम प्रज्ञ साधक की दृष्टि भिन्न है, यह नीचे लिखे विवरण से स्पष्ट ही समझ में आएगा। जिसकी ज्ञान शक्ति उज्ज्वल नहीं है, जो अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व ग्रहण नहीं कर सकता, उसका नाम मन्द प्रज्ञ है। इस प्रकार साधक 'हं'कार के द्वारा पुरुष और 'स'कार के द्वारा प्रकृति—इन दो की धारणा करता है। अतएव उसकी दृष्टि से हंसयोग कहने से पुरुष और प्रकृति का योग समझा जाता है। परन्तु जिसकी प्रज्ञा उससे तीक्ष्ण है, यानी जो मध्य प्रज्ञ है, उसकी दृष्टि के अनुसार

'ह'कार अपान का और 'स'कार प्राण के सञ्चार का बोध कराता है। मुख्य प्राण जब पराङ्मुख भाव से आवर्तित होता है, तो उसे प्राण के बजाय अपान कहा जाता है। अतएव हंसविद्या का रहस्य मध्यम साधक की दृष्टि में प्राण और अपान के संयोग के अलावा और कुछ नहीं। परन्तु जो साधक उत्तम प्रज्ञा सम्पन्न है, उसकी दृष्टि और भी सूक्ष्म है। वह प्रकृति पुरुष के सम्बन्ध या प्राण और अपान के सम्बन्ध को छोड़कर आत्म स्वरूप की ओर लक्ष्य करता है। यह साधक अजपा मन्त्र के पूर्व भाग 'अहं' को जीवात्मा एवं उत्तर भाग 'सः' को शक्तिवाचक कहकर धारणा करता है।

अधिकार चूँकि भिन्न है, इसलिए अजपा जप का विधान भी भिन्न है। निम्न अधिकारी तालु, ओष्ठ आदि दैहिक उच्चारण यन्त्र के व्यापार के द्वारा अजपा जप करता है। ऐसे साधकों का चित्त पूर्णतया शुद्ध या शोधित नहीं है। इसीलिए वे देहगत क्रिया को आश्रय नहीं करके जप साधन नहीं कर सकते। पर, जो मध्यम अधिकारी हैं, उनका चित्त संस्कार अधिक है। इसलिए उन्हें अजपा जप करने के लिए तालु आदि की कोई क्रिया आवश्यक नहीं होती। उनका अधिकार उच्च है, इसलिए उनका विधान भी भिन्न है। उनके लिए दैहिक उच्चारण का प्रयोजन नहीं रहने पर भी दूसरे प्रकार के अनुसन्धान की आवश्यकता है। उनको भावना करनी होती है कि अजपा मन्त्र का 'सः' अंश प्राण रूप में और 'हं' अंश अपान वृत्ति रूप में अपनी देह में सदा अनुस्यूत है। 'हं' शब्द से अपान वृत्ति का साम्यमूलक सम्बन्ध है। इसलिए 'हं'कार अपान वृत्ति की सूचना करता है। उसी प्रकार 'सः'कार प्राण का बोध कराता है। 'सः'कार और 'हं' मन्त्र का यह दो भाग—प्राण और अपान वृत्ति रूप में अपनी देह में सदा ही क्रिया करता है—निरन्तर ऐसा सोचना ही अजपा जप है। जो साधक प्राण अपान रूप में विद्यमान इस मन्त्र को गुरुमुख से अधिगत करता है, वह 'अजपन्नपि' अर्थात् तालु आदि का व्यापार नहीं भी करे तो उसमें प्राण अपान रूप मन्त्र अनुस्यूत रहता है। इसलिए उसका सदा ही जप होता है। इसलिए इस हंस मन्त्र को अजपा विद्या कहते हैं। वाचिक जप की अपेक्षा अनुसन्धान रूप यह जप अधिक प्रबल है एवं अधिक फलप्रद है। फिर भी इस जप के साथ आस्तिक्य भाव, गुरुभक्ति, श्रद्धा आदि सद्गुण का समावेश रहने से बल अधिक होता है। यह हुई मध्यम अधिकारी की बात। पर, उत्तम अधिकारी के लिए अजपा का विधान दूसरे प्रकार का है। कहना नहीं होगा, उच्च अधिकारी का चित्त श्रवण, मनन आदि के अभ्यास से बहुत ही विशुद्ध होता है। इस प्रकार के साधक धारणा करते हैं कि अजपा मन्त्र का पूर्वभाग 'अहं' जीव को समझाता है, जो जाग्रत् प्रभृति विभिन्न अवस्थाओं का साक्षी है। अपने को सुखी अथवा दुःखी अनुभव किया जाता है, इससे समझ में आता है कि 'अहं' पदार्थ जीव का वाचक है। पर मन्त्र के उत्तर भाग में जो 'सः' पद है, वह इनके मत से शक्ति का वाचक है। यह शक्ति वास्तव में विश्व के कारण परमेश्वर का दूसरा नाम है। अतएव, संसारी रूप में प्रतीयमान 'अहं' ही वास्तव में 'सः' अथवा परमात्मा है। यही अजपा जप का तात्पर्य है।

(५)

योगी समाज में अजपा प्रक्रिया के बारे में और भी बहुत विधान देखने में आता है। उनमें से कोई-कोई श्रुति आदि शास्त्रग्रन्थ में निबद्ध है। उदाहरण के तौर पर दो एक का सङ्क्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है—

इस मत से सबसे पहले केवल कुम्भक के द्वारा ऐसी एक अवस्था प्राप्त करनी है, जब रेचक और पूरक कुछ भी नहीं रहता। इस समय श्वास-प्रश्वास का वेग शान्त रहता है। इस अवस्था में नाभिकन्द में प्राण और अपान के साम्य की प्रतिष्ठा होती है। इधर सहस्रदल कमल से निरन्तर जो अमृतधारा झरती रहती है, उस समय उसके पान का अवसर आता है। प्राण की चञ्चल अवस्था में उस अमृत को पान करने की सम्भावना नहीं। योगी जब प्राण और अपान की समता प्राप्त करके शान्ति में अवस्थित होता है, और पूर्ववर्णित अमृत को पाता है, तब उसका कर्त्तव्य है, स्वयं उस अमृत का पान नहीं करके उसके द्वारा नाभि स्थित ज्वलन्त महादेव का अभिषेक करना और साथ-ही-साथ हंस-हंस कहकर हंस मन्त्र का आवर्तन करना। इस उपलक्ष्य में देह में प्रत्यक्ष यज्ञ करने की आवश्यकता होती है। यह आध्यात्मिक सूर्य ग्रहण है। देह तत्त्वविद् योगी जब देह में उत्तरायण और दक्षिणायन नामक दो अयन और विषुव का दर्शन करते हैं, तो वे देह में रहकर ही सकल और निष्कल बिन्दु का साक्षात्कार लाभ करते हैं। प्राण इड़ा से पिङ्गला में सञ्चरण करता है और पिङ्गला से इड़ा में लौटता है। यह उत्तरायण और दक्षिणायन नाम से प्रसिद्ध है। प्राण के मूलाधार में प्रवेश एक विषुव और उसके मस्तक में प्रवेश और एक विषुव। विषुव कहने से ठीक उस अवस्था से मतलब है, जिसमें दिन और रात का साम्य प्रकाशित होता है, देह में भी इन दोनों बिन्दुओं में साम्य प्रकाशित होता है। इसीलिए इन्हें विषुव कहते हें। योगी का कर्त्तव्य है सहित (मन्त्रयुक्त) अथवा केवल (मन्त्रहीन) प्राणायाम के द्वारा अर्थानुसन्धान करके प्रणव और हंस मन्त्र का उच्चारण करना; प्रणवार्थ जो हंसरूप है, उसका सोऽहं रूप में अनुसन्धान करना। यह ऐक्य अनुसन्धान ही नमस्कार योग का रहस्य है। अजपा का तात्पर्य इसी में निहित है। इसके बाद मुद्रा धारण आप ही होता है। इस मुद्रा को चिन्मुद्रा कहते हैं। प्रचलित भाषा में इसी का नाम शाम्भवी या खेचरी मुद्रा है। इस मुद्रा का तात्पर्य यह है कि अपने से भिन्न और कछ नहीं है, इस बोध में स्थिति। आत्मा के अर्चन की प्रशस्त पद्धति है सर्वदा 'सोऽहमस्मि' रूप में मग्न रहना। इसका नाम प्रत्यक्ष याग है। इस समय प्राण पिङ्गला मार्ग से कुण्डलिनी स्थान में प्रवेश करता है। यही आध्यात्मिक सूर्य ग्रहण है।

उपनिषद् में हंसयोग या अजपा साधन का विवरण दिया गया है। इस योग के प्रभाव से प्रत्यगात्मा और परमात्मा का ज्ञान उत्पन्न होता है। यही हंस ज्ञान है। जो योगी इस पद्धति के अनुसार अजपा साधन में अग्रसर होते हैं, उन्हें पहले सिद्धासन पर बैठकर वाम गुल्फ के द्वारा गुदस्थान को आवेष्टन करके क्रिया करनी होती है। इस प्रकार मूलाधार में वायु सञ्चित होती रहती है। इसके बाद अपनी शक्ति के अनुसार आकुञ्चन क्रिया के द्वारा मूलाधार से उस वायु को उठाना पड़ता है। यहाँ तक क्रिया सिद्ध होने पर प्राण और अपान का साम्य स्थापन करना आवश्यक होता है। प्राण और अपान के साम्य भाव में आने पर मूलाधार स्थित त्रिकोण में जो अग्नि है, उसे उठाकर प्राण और अपान के साथ जोड़ने से ही कुण्डलिनी शक्ति जाग उठती है। कुण्डलिनी के

जागने के बाद उस जाग्रत् कुण्डलिनी के द्वारा ब्रह्म ग्रन्थि को भेद करना होता है। इस ग्रन्थि का भेद नहीं होने तक षट्चक्र का प्रथम चक्र के मूलाधार में अर्थात् चतुर्दल दल में प्रवेश करने का सामर्थ्य ही नहीं आता। कमल में प्रवेश करके, उस कमल में जो एक बिन्दु या तुरीय भूमि है, उसका ध्यान करना होता है। उस ध्यान से ऊर्ध्वगति उत्पन्न होती है। तब षट्दल स्वाधिष्ठान चक्र की तीन बार प्रदक्षिणा करके दशदल मणिपुर में गमन करना होता है। उस समय फिर ग्रन्थि भेद की आवश्यकता होती है। इस ग्रन्थि का नाम विष्णु ग्रन्थि है। यह अनाहत चक्र के नीचे अवस्थित है। इसको भेद नहीं कर पाने से हृदय चक्र में प्रवेश नहीं किया जा सकता। हृदय में प्रवेश करके पहले की तरह चक्रस्थ मध्य बिन्दु में तुरीय ध्यान आवश्यक होता है। यह सूत्रात्मा का ध्यान है। इस समय सविकल्प समाधि का उदय होता है। अनाहत को अतिक्रम करके विशुद्ध चक्र में प्रवेश करने के मार्ग में स्तनवत् लम्बमान दो मांस खण्ड दिखाई देते हैं। उस समय पास के दोनों पथों को छोड़कर मध्य पथ से विशुद्ध में प्रवेश करना होता है। इसके बाद तुरीय या अन्तिम ग्रन्थि को भेद करके आज्ञाचक्र में उठना चाहिए। इस ग्रन्थि का नाम रुद्र ग्रन्थि है। यह आज्ञाचक्र के नीचे अवस्थित है। आज्ञा में प्रवेश करने के बाद वहाँ के बीज या तुरीय का ध्यान जरूरी है। यहाँ तक के मार्ग को पार कर लेने पर योगी चन्द्र, सूर्य और अग्नि—इन तीन तेजों अथवा तीन बिन्दुओं को मिलाने में समर्थ होता है। उस समय इन तीन तेजों में पार्थक्य नहीं रहता। तीनों के मिलने से एक महातेज का विकास होता है। इसके फलस्वरूप सहस्रार से झरते हुए अमृत के आस्वादन का अधिकार उत्पन्न होता है। तब योगी अजर और अमर पिण्ड लाभ करके सहस्रार शोभी ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करता है। वहाँ तूर्य या तूर्य-तूर्य का अपरोक्ष दर्शन होता है। तूर्य करने से चतुर्थ समझा जाता है। जिस पर तीन मात्राएँ आरोपित होती हैं, उसी का नाम तूर्य है। जब इस अवस्था का अनुभव होता है, तो अपनी त्रिमात्र रूप में प्रतीति होती है। परन्तु तूर्य-तूर्य में मात्रा लुप्त हो जाती है। यही अमात्र परिस्थिति है। यह साक्षात्कार क्षणिक न होकर सदाकालीन होना आवश्यक है। तूर्य में कुछ साकार भाव रहता है। किन्तु तूर्य-तूर्य में साकार भाव बिल्कुल नहीं रहता। यह प्रतिद्वन्द्वीहीन एक और अद्वय है। परमहंस अवस्था इसी का दूसरा नाम है। तूर्य-तूर्य के स्वगत अंश से तूर्य उद्भूत होता है। योगिगण इसको कोटि सूर्य की तरह देदीप्यमान कहते हैं। परन्तु सच तो यह है कि इसका वर्णन नहीं हो सकता। ऐसा वर्णन तूर्य से अभिन्न मानकर किया जाता है। वास्तव में यह वर्णन के अतीत है।

(६)

अजपा आत्ममन्त्र है, यह पहले ही कहा गया है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीन अवस्थाओं में जीवात्मा वास्तव में परमात्मा से अभिन्न है—यह महातत्त्व ही इस मन्त्र का प्रतिपाद्य है। इस मन्त्र के ऋषि हैं—ब्रह्मा, छन्दः, गायत्री, देवता, आत्मा, शक्ति 'सः' और बीज 'हं'। इस मन्त्र के दो भाग हैं—एक शक्ति, दूसरा बीज। इसलिए यह शिव शक्ति घटित है।

विद्या या संविद्रूपिनी शक्ति ही मन्त्रात्मा 'सः'कार का वाच्यार्थ है। उसी प्रकार उक्त शक्ति का प्रतिपाद्य निष्कल परशिव ही 'ह◌ं'कार का प्रतिपाद्य है। शब्दात्मक शक्ति और बीज, अर्थात् 'सः' और 'हं' इस स-

कल और निष्कल स्वरूप का ही प्रतिपादन करता है। सत्य ज्ञान आदि लक्षण निरुपाधिक स्वप्रतिष्ठ अन्तरात्म रूपी चैतन्य ही परशिव है। 'अहं' शब्द अन्तरात्मा या प्रत्यगात्मा का बोध कराता है, इसलिए उसके द्वारा परशिव का ही प्रकाश होता है। ये शिव स्वरूप अपनी माया के द्वारा जब आप ही अपने प्रतियोगी या प्रतिद्वन्द्वी का उद्भावन करते हैं तो वह प्रतियोगी उनका द्वितीय होता है और उसे शक्ति कहते हैं। अजपा मन्त्र में जो 'स'कार है, वह इसी शक्ति का बोध कराता है। यह मन्त्र इसलिए शिव और शक्ति उभयात्मक है; क्योंकि 'हं' पुरुष का और 'स:' प्रकृति का वाचक है। *प्रपञ्चसार* में भगवान् शङ्कर ने कहा है—

हंकार: पुरुष: प्रोक्त: स इति प्रकृतिर्मता।
पुं–प्रकृत्यात्मको हंस: तदात्मकमिदं जगत्।।

शिव शक्त्यात्मक अर्द्धनारीश्वर अर्थात् शक्तियुक्त परमेश्वर निरन्तर उस पर शिवस्वरूप का ध्यान करते हैं और वह मन्त्र जपते हैं।

(७)

द्वादशदल हृत् कमल में चार दल से श्वास–प्रश्वास का कोई सम्बन्ध नहीं होता—हंस उन चार दलों को स्पर्श नहीं कर सकता है। प्राण अपान उपाधियुक्त जीव का ही यहाँ 'हंस' कहकर उल्लेख किया गया है। यह हंस यद्यपि उन चार दलों का स्पर्श नहीं करता, मगर यह बाकी आठ दलों में निरन्तर भ्रमण करता रहता है। जीवों के चित्त में हर क्षण नाना प्रकार के भावों का उदय होता है, यह सभी जानते हैं। आपातत: बिना कारण ये भाव चित्त में निरन्तर क्यों उठा करते हैं, अज्ञान से आच्छन्न जीव उसका वास्तविक कारण नहीं बता सकता। विशेषज्ञों का कहना है, ये भाव या विकल्प राशि संख्या में अनगिनत हैं, फिर भी स्थूल दृष्टि से आठ श्रेणियों में विभक्त हो सकती हैं। योगिगण कहते हैं, भ्रमण काल में जीव जब जिस दल का स्पर्श करता है या जब जिस दल में प्रविष्ट होता है, तब उसके अनुरूप ही भाव उसके चित्त में उदित होता है। यह जानना है कि पूर्व ओर के दल से ईशान कोण के दल तक कुल आठ दल हैं। शास्त्रकारगण और अनुभवसिद्ध महाजनगण दल विशेष के साथ भाव विशेष के सम्बन्ध का सूक्ष्म रूप से निरूपण करके व्याख्या करते हैं। इस विषय में किसी–किसी से कुछ मतभेद का अवसर देखने में आता है। भाव और रस के साधकों ने इस विज्ञान का अनुसरण करके अपनी–अपनी साधन पद्धति की रचना की है। दल और कर्णिका—कमल में ये दो प्रधान अंश हैं। वायु जब दल में सञ्चरण करती है, तो चित्त चञ्चल और बहिर्मुख रहता है। उस समय वासना आदि का प्रभाव तीव्र भाव से अनुभूत होता है, पर अगर वायु दल को त्यागकर मध्य बिन्दु या कर्णिका में प्रवेश करती है, तो अपने से अतिरिक्त विषय अर्थात् बाह्य विषय में वैराग्य उपजता है। केशर में वायु के सम्बन्ध से जाग्रत् दशा का विकास होता है। उस समय अहङ्कार पूरी तरह कार्य करता है। वायु के कर्णिका में प्रवेश करने पर अहङ्कार अर्द्ध विकसित अवस्था में परिणत होता है। यही स्वप्न दशा है। बिन्दु या कर्णिका के अन्त:स्थित शून्य में वायु के प्रवेश करने से सुषुप्ति दशा का उदय होता है। उस समय अहङ्कार नहीं रहता। इसे भी यानी इस शून्य को भी पार करना पड़ता है। तब फिर कमल से सम्बन्ध नहीं रहता। उस समय

की अवस्था का नाम तुरीय है। यही साक्षात्कार की अवस्था है। उस समय हंस प्रत्यगात्मा के साथ अभिन्न परमात्मा के स्वरूप में प्रकाशित होता है। हंस के ऊपर नाद की क्रिया रहती है। उसके कारण मन धीरे-धीरे अपने को खोता रहता है। चरम अवस्था में उन्मनी भाव का उदय होता है। यह तुरीयातीत अवस्था है। यह तुरीयातीत स्थिति भी स्वाधिष्ठान और निरधिष्ठान—दो तरह की है। स्वाधिष्ठान स्थिति में देह रहती है, पर त्रिताप की पीड़ा नहीं रहती। इस अवस्था में नाद या अर्द्धमात्रा रहती है। पर जब देह नहीं रहती, तो नाद भी नहीं रहता—उस समय नाद प्रत्यगात्मा के साथ अभिन्न परमात्मा में या हंस में लीन होता है। यह प्रतियोगी हीन अद्वैत ब्रह्म अवस्था है।

श्वास-प्रश्वास ही आत्म मन्त्र है। निःश्वास 'सः'कार या त्वं पदार्थ एवं उच्छ्वास बिन्दु सहित आकाशबीज 'हं'कार है। यह तत् पदार्थ है। पुनः पुनः इन दोनों का योग ही मैं है। इसी का नाम है 'तत्त्वमसि'। यही अजपा के स्वरूप का रहस्य है।

(८)

अजपा साधन के सम्बन्ध में बहुत सारी बातें कही गईं। परन्तु इस साधना का व्रती हुए बिना इसका रहस्य सहज में बोधगम्य नहीं होता। जप की संख्या नहीं रखने से ही जो अजपा होता है, वास्तव में बात ऐसी नहीं, या कि संख्या बिना रखे श्वास-प्रश्वास के साथ जप करने से ही अजपा होता है, ठीक यह भी नहीं। वाचिक, उपांशु अथवा मानसिक, जिस किसी क्रम में बद्ध रहने से भी अजपा नहीं होता। मगर हर साधन क्रिया का ही कोई-न-कोई फल अवश्य होता है। शास्त्र के अनुसार महाजनगण नाम का 'चैतन्य-रसविग्रह' और 'चिन्तामणि' के रूप में वर्णन करते हैं। यह बहुत सही है। नाम सिर्फ लौकिक आकाश धर्म शब्द मात्र ही नहीं। वह चेतन तथा पूर्ण जीवनी शक्ति सम्पन्न है। वह भगवान् के अनुग्रह या गुरु की कृपा से अपने बल पर ही चलता रहता है। श्वास-प्रश्वास की तरह यह वाक् यन्त्र को आश्रय करके भी अपनी शक्ति से ही काम करता है। अहङ्कार विमूढ़ जीव अपनी चेष्टा या अपनी इच्छा से भगवान् के जाग्रत् नाम का जप नहीं कर सकता है; क्योंकि चिन्मय नाम स्वतन्त्र है। सद्गुरु का अनुग्रह प्राप्त साधक केवल द्रष्टा होकर इस प्रकार के नाम का खेल देखता रहता है। और, श्रोता होकर निरन्तर उसका अनुगमन करता है। अजपा का यही रहस्य है कि स्वभाव से ही क्रिया होती है—स्वयं को कुछ नहीं करना पड़ता। स्वयं क्रिया की पृष्ठभूमि में रहकर सिर्फ खेल के द्रष्टा के रूप में अवस्थान करता है।

इसलिए सद्गुरु द्वारा शक्ति सञ्चार सबसे पहले ही आवश्यक है। अवश्य यह बाहर से भी हो सकता है ओर सौभाग्य हो तो भीतर से भी हो सकता है। इसके सिवाय जितना सम्भव है, मन से पृथक् रहकर प्रकृति का खेल देखना चाहिए। कल्पना मन का धर्म है, इसलिए उसका सब प्रकार से वर्जन करना चाहिए। सत्य स्वयं प्रकाश है, वह अपने आलोक में आप ही प्रकाशित होता है। मन या कल्पना शक्ति उसे ढका हुआ सा या खण्डित सा करके रखती है, बस। श्वास-प्रश्वास जैसा स्वाभाविक है, उसके साथ नाम गुँथा रहने से वैसी

ही उसकी क्रिया भी स्वाभाविक होती है। कोई-कोई जप के द्वारा प्राण की नियन्त्रण क्रिया का भी अभ्यास करते हैं। प्राण को नियन्त्रित करने से ही बद्ध प्राण को मुक्त प्राण रूप में परिणत करना सम्भव होता है। काँटे से जैसे काँटा निकाला जाता है, वैसे ही प्राण को बद्ध करने से ही अबाधित मुक्त प्राण का पता मिलता है। प्राणायाम की यह जो क्रिया है, उससे देहात्म बोध सहज ही कट जाता है और बाहरी स्मृति तथा देह का संस्कार लुप्त होता है। उस समय चैतन्यमय प्रवाहशील एकमात्र नाम का अस्तित्व अनुभूत होता है। उस प्राण के नियन्त्रण के अन्तर्गत भाव से नवद्वार को बन्द करना पड़ता है। एक बार प्राण वायु के अन्तर्मुख आकर्षण के बाद साधारण वायु के अन्त:प्रवेश को बद्ध करना होता है। नाम के जीवन्त प्रवाह में मन को संलग्न तथा अपने सामर्थ्य के मुताबिक उस अन्तराकृष्ट वायु को धारण करना होता है। बाह्य जगत् का संस्कार और देहात्म बोध के लुप्त हो जाने से आध्यात्मिक मार्ग का प्रधान प्रतिबन्धक दूर हो जाता है।

पूछा जा सकता है कि श्वास-प्रश्वास जब विक्षेप रूप में परिगणित होता है, तो श्वास-प्रश्वास को आश्रय करके नाम साधना की सार्थकता क्या है? उत्तर यह है कि श्वास-प्रश्वास विक्षेप है, यह सही है और जिस स्थान में जाकर स्थिति लेनी होगी, वह श्वास-प्रश्वासहीन है—मन की चञ्चलता, सुशान्त, परम स्थान है। उस परम स्थान में कुम्भक की अवस्था में प्रवेश प्राप्त होता है। अपने स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास को अवलम्बन किए बिना उस स्थान में स्थिति लाभ नहीं। ज्ञानेन्द्रिय के द्वार को रुद्ध नहीं करने से कुम्भक हो ही नहीं सकता। क्योंकि इन्द्रियों का द्वार खुला रहने से मन की चञ्चलता अनिवार्य है। उसके साथ-साथ प्राण की चञ्चलता भी स्वाभाविक है। ज्ञान का द्वार निरुद्ध होने से बाहर की स्मृति लुप्त होती है और स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास भी अस्वाभाविक और अशान्तिकर लगता है।

कोई-कोई महात्मा अजपा के सम्बन्ध में कहते हैं कि कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होने से तालु मूल से नाभि तक एक आकर्षण-विकर्षणात्मक क्रिया का अनुभव होता है। वह अवस्था नहीं होने से प्रकृति अजपा क्रिया नहीं हो सकती।

(९)

हम साधारणतया मन के साथ घनिष्ठ रूप से जड़ित हैं। वास्तव में मैं जो मन से पृथक् है, मन का साक्षी और मन का नियामक है, यह हम सदा भूले रहते हैं। इसके फलस्वरूप मन से अपना-अपना तादात्म्य अर्थात् अभेद भाव बहुत ही गाढ़ा हो जाता है, इसीलिए बहुत बार कार्यक्षेत्र में मन ही मैं हो बैठता है। ऐसी अवस्था में इन्द्रिय के कार्य के साथ मन लिप्त हो जाता है—वह इन्द्रिय का नियन्त्रण नहीं कर सकता। वैसे में अभिमान जग उठता है अर्थात् कर्तृत्व और भोक्तृत्व भाव उदित होता है। हम स्वयं कर्म के कर्त्ता बनते हैं, इसलिए सुख-दु:ख का भोगरूप बोझ खुद को ही ढोना पड़ता है। सांसारिक बद्ध जीवन का यही स्वरूप है।

लेकिन मन से अपने को कुछ विविक्त कर पाने से मन भी इन्द्रिय व्यापार से विविक्त हो सकता है। इन्द्रिय व्यापार के साथ प्राण के खेल का सम्बन्ध है। ज्ञान का व्यापार भी प्राण का खेल है, कर्म का व्यापार

भी प्राण का खेल है। प्राण ही विश्व के रङ्गमञ्च पर खेला करता है—यही प्रकृति का खेल है। मन अगर तटस्थ होकर यह खेल देखता है तो ठीक होता है। परन्तु साधारणत: वैसा नहीं होता। खेल देखकर मन खुद ही खेलना शुरू करता है। पर, अज्ञान के अभाव के प्रभाव से खेल का भाव ढक जाता है अर्थात् स्वयं कर्त्ता बनकर अभिनय करता है। साक्षी भाव से दर्शन नहीं करता। इसी से रस भी नहीं पाता। प्राण खेलता है, उसके संसर्ग में मन भी खेलता है। मन की अशान्ति या चञ्चलता का यही रहस्य है।

सारी अशान्ति का मूल कारण यह है कि मैं द्रष्टा नहीं। मैं के द्रष्टा होने से ही मन बिना चेष्टा के ही निष्क्रिय हो जाएगा। मन तब स्वच्छ और निर्मल रहता है। तब उसमें प्राण का खेल आरोपित होता है। उस खेल में मन भाव का आरोप करता है—मैं द्रष्टा होकर उसे देखता हूँ। मन सत्त्व स्वरूप है, उसमें से देखने पर आत्मा का तटस्थ भाव अक्षुण्ण रहकर भी आत्मा अभिनेता-अभिनेत्री से अपना भेद भूल जाती है, यानी उन्हें अपना किये लेती है, यद्यपि खुद प्रेक्षक ही रहती है। मन के मध्यस्थ नहीं रहने से ऐसी स्थिति नहीं हो सकती।

यह जो मन की बात कही गई, वह शुद्ध मन या शक्ति है। परमात्मा के लिए जो शक्ति है, जीवात्मा के लिए वही मन है। शुद्ध मन योगमाया की परिणति है और अशुद्ध मन मलिन माया की परिणति है—करना और कराना, देखना और दिखाना—सर्वत्र ही इसकी आवश्यकता है।

खेलते हैं प्राण, प्रकृति (शुद्ध और अशुद्ध)। अब यह आवश्यक है कि मन जिसमें वह खेल देखे अर्थात् मैं स्वयं साक्षी रहकर भी शुद्ध मन के योग से जिसमें वह देखूँ। साक्षी रहे बिना शुद्ध मन को पाने का कोई उपाय नहीं। उस समय जो पाया जाता है, वह मलिन मन है, जो खेल से जुड़ जाता है और साथ-साथ मुझे भी जड़ित करता है। मन को बाद देने से भी आत्मा द्रष्टा ही रहती है, पर उस अवस्था में जो कुछ देखती है, अपने से पूर्णतया अभिन्न देखती है। उससे लीला दर्शन नहीं होता। यद्यपि मूल में वही अपने को आप ही देखना अवश्य रहता है, फिर भी लीला दृष्टि में कुछ भेद रहना जरूरी है। इसीलिए, रसास्वादन के लिए स्वच्छ मन अनिवार्य है। यह मन वैसे में दर्पण होता है, जिसमें स्वभाव का खेल प्रतिबिम्बित देखा जाता है। इसी का नाम भाव का खेल है। शुद्ध मन को छोड़ने से भावातीत स्थिति पाई जा सकती है। उसमें रसास्वादन नहीं रहता—रहती है केवल अनन्त और अबाधित आत्मदृष्टि।

मनोमय या सत्त्वमय स्तर में ही खेल देखती है, देखती है आत्मा। यह खेल अनन्त है—देखते-देखते देखने का अन्त नहीं मिलता। और फिर देखते-देखते विक्षोभ भी आता है। तब भावातीत स्थिति होती है। जो साक्षी हैं, वे रहते हैं विश्राम के साक्षी। जो विश्राम के साक्षी हैं, खेल के साक्षी भी वही हैं। विश्राम के साक्षी निकुञ्ज विहार के द्रष्टा एवं खेल के साक्षी कुञ्जलीला के द्रष्टा हैं। साक्षी लेकिन एक ही।

आत्मा भाव रञ्जित होकर खेल देखती है। अर्थात् सहृदय नहीं होने से खेल देखकर रस का अनुभव नहीं होता। उसके अपने लिए कोई खेल ही खेल नहीं। आत्मा भाव रञ्जित होकर विशुद्ध द्रष्टा के रूप में मन को देखने से मन निष्क्रिय होगा, इसलिए प्राण का खेल फिर उस समय नहीं रहेगा।

हम लोगों के श्वास-प्रश्वास का प्रवाह इस प्राण का खेल है। निरन्तर ऊपर-नीचे यह खेल चलता है। शिव से शक्ति तक और फिर शक्ति से शिव तक यह प्रवाह चलता है। शिव शक्ति के विच्छेद या विरह के समय दोनों में व्यवधान रहता है। तभी यह प्रवाह चलता है। श्वास की क्रिया इसी का नामान्तर है। जब शिव शक्ति का मिलन सङ्घटित होता है, तब यह प्रवाह नहीं रहता—श्वास की क्रिया भी नहीं रहती, एक परम शान्त भाव में स्थिति होती है।

शिव शक्ति के विच्छेद की अवस्था में आत्मा मन में एवं मन प्रकृति में या प्राण में जड़ित रहता है। आत्मा स्वबल से द्रष्टा होकर मन को यदि दृश्य करे तो मन भी तटस्थ होकर प्राण के खेल को देख सकता है। इसलिए मन को श्वास की गति के निरीक्षण कार्य में लगाना चाहिए और खुद मन की पृष्ठभूमि में नीरव होकर अवस्थान करना चाहिए। साधारणतया मन श्वास के और प्राण के साथ सञ्चालित होता है। इसी से श्वास चलता है। पर मन जब श्वास के सङ्ग न चलकर उसकी गति का निरीक्षण करता रहता है, तो मैं भी उदासीन होता हूँ और साथ ही श्वास की गति में भी मन्दता आ जाती है।

इसकी भी एक परावस्था है। वह अद्भुत रहस्य है। जब शिव शक्ति का मिलन होता है, जब प्राण और अपान का योग होता है, जब वायु स्तम्भित होती है, मन स्तम्भित होता है, समग्र विश्व स्तम्भित होता है, काल की गति निरुद्ध होती है, परम शान्ति का उदय होता है, तब उस महास्थिति में भी अन्दर ही अन्दर एक व्यापार चलता रहता है। यह हंस अवस्था से परमहंस अवस्था में उन्नयन है। इसी को आत्मरमण कहते हैं। यह आप अपने से विहार है। दूसरा कुछ तो उस समय होता नहीं, शिव शक्ति मिलित होते हैं। मिलित होने पर भी उसमें अन्तःक्रिया है। यह शिव और शक्ति का परस्पर अनुप्रविष्ट स्वरूप है। यह बहुत ही गुप्त है। आगम कहते हैं, यह अनुत्तर अक्षररूपी परमेश्वर अपने अङ्गभूत और निखिल प्रपञ्चलयात्मक विमर्श शक्ति में अनुप्रविष्ट या प्रतिबिम्बित होता है, उसके बाद वह विमर्श शक्ति अपने अन्तःस्थित प्रकाशमय प्रतिबिम्ब में अनुप्रविष्ट होती है। आत्माराम अवस्था का यही पूर्वाभास है।

तान्त्रिक साधना और सिद्धान्त (३५३-३६८) से साभार।

❑

सात्म्येन्द्रिय व्यवहार योग से आरोग्य

डॉ. कमलाकान्त त्रिपाठी

श्रीविद्यासंस्कृतात्मानो विभिद्य ब्रध्नमण्डलम्।
ब्रह्मीभूता: सदा पान्तु सीतारामकवीश्वरा:।।१।।

परविद्यास्पृशे शिष्यबुद्धिपङ्कजभास्वते।
देशिकाय नमस्तस्मै कविराजमहात्मने।।२।।

रोग दु:खों का ही अनुभव कराते हैं। रोगों के मूल की गवेषणा की जाय तो गवेषकों को कई कारण उपलब्ध हो जायेंगे। कारण के बिना कार्य की उपलब्धि नहीं होती। वात-पित्त-कफ-वैषम्य ज्वर आदि रोगों का कारण है, इसमें ऋषि ऐकमत्य हैं। वात, पित्त और कफ, इन तीनों धातुओं में वैषम्य क्यों उत्पन्न होता है? इस प्रश्न के उत्तर में आर्ष दृष्टि के अतिरिक्त अन्य सारी दृष्टियाँ निरस्तप्राय ही समझी जाती हैं। ऋषि ऋतम्भरा प्रज्ञा के धनी होते हैं अत: वे इधर-उधर न भटक कर वेदों में ही समाधान ढूँढ़ते हैं। वेदोत्थ समाधान ही समाधान होता है। धातुवैषम्यप्रयुक्त और अन्य सभी रोगों के मूल में 'असात्म्येन्द्रियव्यवहार' ही है। असात्म्येन्द्रिव्यवहार के कारण ही महारोग भवबन्धन और अन्य सारे जगत्प्रसिद्ध रोगों का उदय होता है। असात्म्येन्द्रियव्यवहार क्या है? इसकी यथोचित व्याख्या हो जाय और वैसा व्यवहार भी न हो तो पुरुष नीरोग रहेंगे, इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह संभव नहीं है। 'आत्मना सह वर्तत इति सात्मा, तस्य भाव: सात्म्यम्, न सात्म्यम् असात्म्यम्, असात्म्येन इन्द्रियाणां व्यवहार: असात्म्येन्द्रियव्यवहार:।'

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं ये नु पश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।।

यह श्रुति नीरोग रहने के लिए वास्तविक उपाय को ज्ञापित कर रही है। इसी से यह भी ज्ञापित हो रहा है कि जीवों का नियामक भी एक परमेश्वर है जिसको हृदय में देखा जाय तो शाश्वत सुख की प्राप्ति होगी। परमात्मा के दर्शन करने वालों को ही शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है, अन्यों को नहीं होती है। उस परमात्मा के दर्शन के अनुकूल इन्द्रियव्यापार अर्थात् कार्य किया जाय तो वह सात्म्येन्द्रिव्यवहार होता है। जो इन्द्रियव्यवहार परमात्मा के दर्शन के प्रतिकूल हो वह असात्म्येन्द्रिव्यवहार होता है। कौन कार्य परमात्मा के दर्शन के अनुकूल है और कौन कार्य परमात्मा के दर्शन के प्रतिकूल है, इसे हम शास्त्रों से ही समझ सकते हैं। शास्त्रों से ही समझकर परमात्मदर्शनानुकूल कार्य करना चाहिए। शास्त्र की परिभाषा शास्त्रतत्त्वों के जानकार प्रस्तुत करते हैं—

शास्त्रं च शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानम्। – *मीमांसाभाष्य*

शब्दों के विशिष्ट ज्ञान के द्वारा अन्य प्रमाणों से अज्ञात अर्थ के ज्ञानसाधन को ही शास्त्र कहते हैं। वे शास्त्र ऋषियों के द्वारा ही परिगणित हैं—

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।
पुराणं धर्मशास्त्रञ्च विद्याश्चैताश्चतुर्दश।।

व्याकरण, छन्द, शिक्षा, कल्प, निरुक्त, ज्योतिष, ये षडङ्ग हैं। मीमांसा, न्यायशास्त्र (आन्वीक्षिकी), पुराण, धर्मशास्त्र और चारों वेद ही शास्त्र कहलाते हैं। शास्त्र कही जाने वाली इन्हीं चौदहों विद्याओं से परमात्मा के दर्शन के उपायों को जाना जा सकता है। बौद्ध, आर्हत आदि ग्रन्थशास्त्र नहीं हैं अत: इन ग्रन्थों के माध्यम से परमात्मा के दर्शन के उपायों को नहीं समझा जा सकता। उन सभी उपायों को भगवान् पतञ्जलिमुनि ने अपने योगसूत्र में यम और नियम के रूप में ग्रहण कर लिया है। जैसाकि उनके सूत्र हैं—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। — *योगसूत्र, २.३०*
शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।। — *योगसूत्र-२.३२*

हर काल और हर प्रकार से समस्त प्राणियों के प्रति द्रोह का अभाव ही अहिंसा है। यहाँ व्यास मुनि ने मूल का कथन किया है। प्राणियों के प्राण को लेने के लिए शस्त्रघात आदि व्यापार को हिंसा कहते हैं। तात्पर्य यही है कि जिन क्रिया-कलापों से प्राणियों की प्राणवृत्ति प्रभावित हो वे सभी हिंसा हैं जिनके मूल में द्रोह है। द्रोह जब समाप्त होगा तभी हिंसा की भावना का नाश होगा। हिंसा की भावना के बीज का ही नाश कर देना वस्तुत: अहिंसा है। इसी तरह सत्य, अस्तेय (अचौर्य), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह हैं। असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य और परिग्रह (अर्थसंचय) से इन कर्मों में संलिप्त पुरुष ही प्रभावित नहीं होते, अपि तु चराचर जगत् प्रभावित हो जाता है। असत्य और चोरी से अन्य पीड़ित होते हैं, यह सर्वविदित है। ब्रह्मचर्य वेदाध्ययन को कहते हैं। गौणवृत्ति से वेदाध्ययन के लिए या वेदों के संरक्षण के लिए जो नियमविशेष हैं उन्हें भी ब्रह्मचर्य ही कहा जायेगा। चक्षु आदि इन्द्रियों को वशीभूत करने वाले पुरुष के उपस्थसंयम को ब्रह्मचर्य व्यासमुनि ने कहा है। अन्य इन्द्रियों का भी संयम इसीलिए आवश्यक है कि उपस्थ (जननेन्द्रिय) पर संयम कर लेने वाला पुरुष भी स्त्रियों का दर्शन-स्पर्श-मधुरालाप करता हुआ ब्रह्मचारी नहीं रह सकता है। शरीरयात्रा से अतिरिक्त विषयों का अस्वीकार ही अपरिग्रह है। अस्तेय अशास्त्रीय ढंग से दूसरों के द्रव्यों को अस्वीकार करना है। अपनी वाणी और मन को दृष्ट, अनुमित या श्रुत वस्तु से बहिर्भूत न करना ही सत्य है। यह सत्य सारे प्राणियों के उपकार में ही प्रतिष्ठित रहे। इन व्रतों को सार्वभौम महाव्रत कहा गया है। यदि ये जाति, देश, काल और नियमविशेष के बन्धन से ऊपर हो जायं। इन व्रतों को पूर्णत: प्रतिष्ठा योगी के लिए अनिवार्य कही गयी है। इनमें अप्रतिष्ठित पुरुष की आसन, प्राणायाम, ध्यान आदि सारी क्रियायें भस्म में हवि: प्रक्षेप की तरह व्यर्थ ही

होती है। एवञ्च, यम और नियमों का पूर्णत: प्रतिपालन ही वास्तविक योग है। यमनियमों की अनिवार्यता को *श्रीविष्णुपुराण* में इस तरह कहा गया है—

ब्रह्मचर्यमहिंसां च सत्यास्तेयापरिग्रहान्।
सेवेत योगी निष्कामो योग्यतां मनसो नयन्।।

स्वाध्यायशौचसन्तोषतपांसि नियतात्मवान्।
कुर्वीत ब्रह्मणि तथा परस्मिन् प्रवणं मन:।।

यम और नियमों में संसक्त होते हुए ही परमात्मा में मन लगाना चाहिये, यही उक्त श्लोकों का तात्पर्य है। नियमों में प्रथम परिगणित शौच है जो बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का होता है। गृह्यसूत्रों में बाह्य शौच का विधान है जिसका परिग्रहण धर्मशास्त्रों के आचारकाण्ड में किया गया है। शयनत्याग से लेकर मृत्तिका-जल से शरीरशुद्धि, स्नान, आचमन तथा मेध्य भक्ष्य पदार्थों का सेवन जो अर्जननियम के अनुसार प्राप्त हों। चातुवर्ण्य का द्रव्यार्जननियम मीमांसा के चतुर्थ अध्याय में व्याख्यात है। ब्राह्मण अध्यापन, आर्त्विज्य और प्रतिग्रह के माध्यम से ही द्रव्यार्जन करे तथा क्षत्रिय जय आदि से, वैश्य कृषि-वाणिज्य-पशु-पालन से, शूद्र सेवा आदि से ही। कलियुग में ब्राह्मण के लिए भी कृषि कराने का भी विधान है। वह कृषि भी शास्त्रीय विधान के अनुसार होनी चाहिये। ट्रैक्टर, रासायनिक खाद आदि के माध्यम से कृषि द्वारा प्राप्त अन्न अभोज्य है। इसीलिए शास्त्रों में बलीवर्दों (बैल) के संरक्षण पर बल दिया गया है। कृषि से प्राप्त अन्न का समुचित विनियोग भी होना चाहिये जिसे धर्मशास्त्रों से समझा जा सकता है। सर्वथा आहार का शुद्ध होना आवश्यक है। कहा भी कहा गया है—

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धि: सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृति:।

आहार के शुद्ध होने पर ही सत्त्व (अन्तःकरण) शुद्ध होता है जिससे ईश्वरप्राणिधान होता है। 'आहार' शब्द से सभी इन्द्रियों के विषयों को समझना चाहिये—आहार इन्द्रियविषया:। चक्षु, श्रोत्र, रसन, घ्राण, त्वक् ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों से उन्हीं विषयों का दर्शन (ज्ञान) होना चाहिए जिससे शास्त्रीय मर्यादा का अतिक्रमण न हो। जो देखने योग्य न हो उसे नहीं देखना चाहिये, जो सुनने योग्य न हो उसे नहीं सुनना चाहिये, जो स्वाद लेने योग्य न हो उसका स्वाद नहीं लेना चाहिये, जो सूँघने योग्य न हो उसे नहीं सूँघना चाहिये, जो स्पर्श के योग्य न हो उसका स्पर्श नहीं करना चाहिये। ऐसा होने पर ही ज्ञानेन्द्रियाँ अपने उचित आहार को प्राप्त करके शुद्ध रहेंगी। भोजन का आचार बुफे सिस्टम आदि से कुर्सी पर बैठ कर या जूता पहने भोजन करने पर बाधित होगा ही, अत: भोजन का प्रकार भी यथाशास्त्र शुद्ध होना चाहिये। कर्मेन्द्रियों का संयम भी इसी तरह आवश्यक है। वाणी संयमित होकर प्रभु का गुणगान करे। उसमें कठोरता नहीं आनी चाहिये। पाणि (हाथ) का उपयोग परोपकार दान आदि में ही हो, किसी के ऊपर प्रत्याघात के लिए न हो। पाद (पैर) का सदुपयोग भी इसी तरह होना चाहिये। पापों

की ओर कदम न बढ़ें या कि निरीह की पीठ के ऊपर न पड़ें। पायु (गुदा) का उपयोग उचित विसर्ग में हो। उपस्थ (जननेन्द्रिय) का भी अनुचित प्रयोग न हो। पाणिग्रहण संस्कार से प्राप्त पत्नी में ही उपस्थ का उपयोग होना चाहिये। स्त्रियों के लिए भी यही विधान अपेक्षित है। उपस्थ से ही मूत्रविसर्ग होता है जिसे शास्त्रानुसार ही होना चाहिये। पशुवत् नहीं होना चाहिये। खड़े-खड़े मूत्रविसर्ग के लिए आधुनिक संसाधनों का निर्माण अवैध ही माना जायेगा। सर्वथा धर्मशात्रीय विधान के अनुसार चलने पर ही आहार की शुद्धि संभव है। चित्त के दोषों का प्रक्षालन ही आभ्यन्तर शौच कहा जाता है। राग-द्वेषामर्ष, कुण्ठा विचिकित्सा आदि चित्त के मल हैं, जिनका प्रक्षालन मैत्री आदि से संभव है। धर्मकृत्यों से या सच्छास्त्रों के श्रवण-मनन आदि से मन:प्रसाद, सौम्यता आदि का संपादन किया जा सकता है। एवञ्च शौच के संपादन के लिए बाह्य और आभ्यन्तर दो कर्मों के भी प्रभेद हो जाते हैं जिसे वसिष्ठ ने विकल्प के रूप में स्वीकार किया है—

बाह्यमाभ्यन्तरं चेति द्विविधं कर्म वैदिकम्।
तयोरन्यतरत् कुर्यात् नित्यं कर्म यथाविधि।।

न्यायैकपक्षपाती समुच्चय स्वीकार करते हैं। इस प्रकार यथाशक्तिन्याय से वसिष्ठ के वचन की भी संगति लगा लेनी चाहिये अथवा उनके इस वचन को आभ्यन्तर कर्मों की श्रेष्ठता में स्वीकार करना चाहिये। आभ्यन्तर कर्मों की श्रेष्ठता को भगवान् श्रीवासुदेव भी *गीता* में कहते हैं—

श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाज्ज्ञानयज्ञ: परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ! ज्ञाने परिसमाप्यते।।

महामहेश्वर श्रीअभिनवगुप्तपादाचार्य इस श्लोक के तात्पर्य को बाह्य कर्मों में स्वीकार करके ज्ञानकर्मसमुच्चय के सिद्धान्त को ही दृढ़ करते हैं। तथा हि-देवता के लिए शास्त्रीय विधि से द्रव्य के त्याग को यज्ञ कहते हैं। इस प्रकार द्रव्य से हीन याग का कोई अन्य प्रकार नहीं हो सकता। इस तरह **'ज्ञानयज्ञ:'** में **उत्तरपदलोपी समास होगा—ज्ञानप्रधानो यज्ञो ज्ञानयज्ञ:।** अर्थात् ज्ञान की ही जिसमें प्रधानता हो वह ज्ञानयज्ञ कहा जायेगा, जो ज्ञानशून्य केवल यज्ञ से श्रेष्ठ होता है। 'द्रव्यमयात्' शब्द में केवलत्व का ही कथन 'मयट्' प्रत्यय करता है। केवल द्रव्ययज्ञ से क्यों ज्ञानप्रधान द्रव्ययज्ञ श्रेष्ठ होता है, इस प्रश्न के समाधान में ही श्लोक का द्वितीयार्ध है। **सर्वमखिलं कर्म ज्ञाने सत्येव परिसमाप्यते।** अर्थात् सारे द्रव्ययज्ञ तभी परिपूर्ण होंगे जब वे ज्ञान से संपन्न होंगे। लिङ्गप्रमाण से कर्मों का ज्ञान और आत्मज्ञान कर्मों का अङ्ग होता है अत: ज्ञान के बिना सभी कर्म अधूरे ही समझे जाते हैं। **'न ह्यविद्वान् विहितोऽस्ति'**, इस सूत्र से भगवान् जैमिनि भी इसी पक्ष को दृढ़ कर रहे हैं। वेदों का भी यही तात्पर्य है, क्योंकि **'य एवं विद्वान् अग्निहोत्रं जुहोति, य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते, य एवं विद्वान् अमावस्यां यजते'**, इत्यादि से वे विद्वान् का ही कर्मों में अधिकार बतलाते हैं।

सन्तोष उपलब्ध साधनों से अतिरिक्त साधनों के ग्रहण की अनिच्छा को कहते हैं। जितने साधनों से जीवननिर्वाह हो सके उनसे अतिरिक्त साधनों को प्राप्त करने की इच्छा होगी तो चञ्चल मन उन्हें प्राप्त करने

के लिए कुमार्गगामी हो सकता है, अत: योगी के लिए सन्तोष भी आवश्यक है। भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, सुख-दु:ख आदि द्वन्द्व हैं जिनको सहन करना ही तप है। तप से प्राकृतिक चाञ्चल्य समाप्त होता है और धृतिप्रधान गाम्भीर्य का उदय होता है। बहिर्मुखता को दूर करने के लिए तप एक उचित साधन है। मोक्षप्रधान शास्त्रों के सेवन को स्वाध्याय कहा जाता है। भाष्यकार महर्षि व्यास ने **'प्रणवजपो वा',** इस दूसरे पक्ष का उपन्यास किया है। अन्तिम पक्ष ही सिद्धान्त पक्ष होता है। प्रणव से वेद ही उपलक्षित है जिसका अभ्यास ही स्वाध्याय के रूप में यहाँ विवक्षित है। अभ्यास का अर्थ आवृत्ति है। वेद का अभ्यास नहीं होगा तो उसका नाश हो जायेगा अत: उसका अभ्यास आवश्यक है। मनु ने भी यही स्वीकार किया है—

क्लृप्तकेशनखश्मश्रुर्दान्त:शुक्लाम्बर: शुचि:।
स्वाध्याये चैव युक्त: स्याद् नित्यमात्महितेषु च।। – *मनुस्मृति ४.३५*

स्वाध्यायी संन्यासी के लिए भी आवश्यक है। वेद से ही संन्यास का वे प्रतिषेध स्वीकार करते हैं—

संन्यसेत् सर्वकर्माणि वेदमेकं न संन्यसेत्।
वेदसंन्यासत: शूद्रस्तस्माद् वेदं न संन्यसेत्।। — *मनुस्मृति ६.९६*

यहाँ इतना अवश्य समझ लेना चाहिये कि 'संन्यासी' शब्द ब्राह्मण संन्यासी में ही मुख्यवृत्ति है। क्षत्रिय आदि में वेश आदि के साम्य को लेकर गौण है।

ईश्वरप्रणिधान ईश्वर में सारे कर्मों का समर्पण है। **ईश्वरे प्राणिधानं सर्वकर्मसमर्पणम्।** इससे श्रीभगवान् में एकतानता (एकाग्रता) परिपुष्ट होती है।

यम और नियमों का सेवन योग में आवश्यक है। आसन का उपयोग स्थिरता के सम्पादन में होता है। प्राणायामों का उपयोग कायशोधन में भी है। कहा भी गया है—

तपो न परं प्राणायामात् ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य।

निर्मलता और ज्ञान का उद्दीपन प्राणायाम का फल है अत: वह उत्तम तप है। एवञ्च, मन को स्थिर करके धारणा के योग्य उसे प्राणायाम ही बनाता है।

विषयों से मन का प्रत्याहरण अर्थात् हटाना ही प्रत्याहार है। प्रत्याहार से ही इन्द्रियाँ वश में होती है, ऐसा सूत्रकार ही कहते हैं—

'तत: परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्।' — *योगसूत्र २.५५*

चित्त को किसी शुभ आश्रय में लगाना ही धारणा है। धारणा के लिए शुभ आश्रय श्रीभगवान् का आगम-पुराण आदि में कहा गया स्वरूप सर्वोत्तम है। जैसा कि पुराण का वचन है—

मूर्तं भगवतो रूपं सर्वोपाश्रयनिः स्पृहम्।
एषा वै धारणा ज्ञेया यच्चित्तं तत्र धार्यते।।

पुराणादि में प्रसिद्ध चतुर्भुजादिरूप श्रीभगवत्स्वरूप में चित्त को लगाना धारणा है। श्रीभगवद्विषयक ज्ञान की अन्य विषयों से असंस्पृष्ट प्रवाहमयता ही ध्यान है। भगवान् के विषय में ज्ञान की एकाग्रता अर्थात् श्रीभगवदाकाराकारित ज्ञान का अन्य सांसारिक विषयों से आक्रान्त न होना ही ध्यान है जो धारणा से ही निष्पन्न होता है।

समाधि योग का अन्तिम अङ्ग है। ध्यान की पराकाष्ठा ही एक तरह से समाधि है। ध्येय विषय परमात्मा से अतिरिक्त ज्ञाता और ज्ञान का विस्मरण जिस ध्यान में होता है वह ध्यान ही समाधि है। ध्यान चित्तवृत्ति स्वरूप वाला होता है। उसी का जब भान न हो, केवल उसके द्वारा ग्राह्य विषय (परमात्मा) का ही स्फुरण हो तब उस अवस्थाविशेष में समाधि की स्थिति होती है जिसमें केवल श्रीभगवान् परमेश्वर भासित हों, ऐसा चिन्तन ही समाधि है। धारणा से लेकर समाधि तक साधनों की अन्तरङ्गता और पूर्व यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार में बहिरङ्गता है। सभी का अनुष्ठान आवश्यक है अन्यथा योग विकलाङ्ग हो जायेगा। एक अङ्ग के विकल होने पर प्राणी विकलाङ्ग होते हैं। योग की भी यही स्थिति है। आठों अङ्गों की परिपूर्णता ही योग है। कर, चरण, मुख आदि सभी अङ्गों की परिपूर्णता ही प्राणी है। योग अपने अङ्गों में वैसे ही समवेत है जैसे पट तन्तुओं में। योग का प्रयोजन निःश्रेयस है। निःश्रेयस प्रयोजन के लिए किया जाने वाला अष्टाङ्ग योग ही योग है। योग का अनुष्ठान निःश्रेयस के लिए होता है, भोग के लिए नहीं। भोग के लिए यम और नियमों का अनुष्ठान संभव ही नहीं है। परिग्रह योग में बड़ी बाधा है। परिग्रह से निःश्रेयस की ओर मन की उन्मुखता समाप्त हो जाती है और वह भोगचक्र में लीन हो जाता है। परिग्रह का अभाव ही अपरिग्रह है। अपरिग्रह की प्रशंसा शास्त्रों में इस तरह प्राप्त होती है—

परिग्रहसमर्थोऽपि नादत्ते कस्यचिद् धनम्।
ये लोका दानशीलानां स तानाप्नोति पुष्कलान्।।

शास्त्रीय आचारों से परिपूर्ण ब्राह्मण ही परिग्रह (दान) लेने में पूर्ण समर्थ होता है। पूर्ण समर्थ होता हुआ भी वह यदि अपरिग्रह है तो उसे दिव्य लोकों की प्राप्ति होती है। परिग्रह शरीरयात्रा से अतिरिक्त धनसंग्रह को भी कहते हैं। ऐसे परिग्रही को शास्त्र में डकैत कहा गया है।

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति।।

जितने से कुटुम्ब का भरणपोषण हो सके उतना ही मनुष्य का धन होता है। उससे अधिक को जो अपना धन मानता है वह दण्ड के योग्य डकैत है।

आज समाज जिन्हें योगी समझ रहा है वे परिग्रहसम्राट् हैं। तीनों लोकों की सम्पत्ति प्राप्त कर लेने की भूख उनके अन्दर है। ऐसे भूखे लोग योग से करोड़ों योजन दूर है। उनको योग से कुछ लेना-देना ही नहीं है, ऐसा माना जा सकता है। यमनियमों को वे मजाक समझते हैं। शास्त्रों के अन्यथाकरण में भी उनका प्रयत्न होता है। अपने वर्णाश्रमधर्म का अतिक्रमण (उल्लङ्घन) भी योग में बाधक है। भगवान् पतञ्जलि ने यम और नियमों को प्रारम्भ में ही परिगणित करके यह इङ्गित किया है कि धर्मशास्त्रों का शतप्रतिशत उपयोग योग में है। धर्मशास्त्रीय आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त तीनों विषय पूर्ण रूप से योग में अपेक्षित हैं। इन्हें छोड़कर केवल आसन और प्राणायाम या कपालभाति आदि प्रयुक्त होकर शरीर को कुछ काल तक के लिए भोग के योग्य बना सकते हैं। भोग के योग्य शरीर को केवल भोग या भोगसाधनों के संग्रह में लगा दिया जाय तो मन योग की ओर प्रवीण कैसे होगा? 'युज समाधौ' धातु से निष्पन्न 'योग' शब्द सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि अर्थ में विद्यमान है जहाँ प्राकृत प्रपञ्च से आत्मा का वियोग और परमात्मा से संयोग भी अभिप्रेत है। वह चित्तवृत्तिविलय रूप है। इसी प्रयोजन को निष्पन्न करने के लिए यम-नियम आदि क्रियायोग साधन हैं। इस प्रकार योग साध्यसाधन उभय (दोनों) रूप वाला है जिसका भोग से कोई सम्बन्ध नहीं है। भोगप्रयुक्त होकर वह योग नहीं योगाभास हो जाता है जिसे 'योगा' भी कहते हैं। योगाभास का ही एक भाग 'योगा' है। केवल 'भास' हटा है। योगा योगाभास का ही बोधक है। हेत्वाभास आदि की तरह योगाभास भी दोष है।

योग में भोग नहीं है, ऐसी बात भी नहीं है। शास्त्रनियन्त्रित मर्यादित भोग योग में भी स्वीकृत है। **'धर्माविरुद्धो कामोऽस्मि'**, इस वचन से श्रीभगवान् ने भी *गीता* में इसे सूचित किया है। इस तरह का यमनियमादि से परिपुष्ट भोग योग नहीं है, अपितु भोगाभास है जो दोष न होकर गुण है। योगाभास दोष है और भोगाभास गुण है।

सोऽयमित्थमथ भीमनन्दिनीं दारसारमधिगम्य नैषधः।
तां तृतीयपुरुषार्थवारिधेः पारलम्भनतरीमरीरमत्।। —*नैषधीयचरित*

नल ने दमयन्ती को शास्त्रीय विधान से प्राप्त किया और उन्हें तृतीय पुरुषार्थ कामरूपी सागर को पार करने के लिए नौका समझा और उनके साथ रमण किया। इस तरह का धर्म-शास्त्रानुसारी भोग योग में सहायक है। सम्पत्तिभोग भी नियमानुसार योग में सहायक है। शास्त्र के अनुसार कार्य करने से अष्टाङ्ग योग किसी तरह से प्रभावित नहीं होता, प्रत्युत अपने मुख्य प्रयोजन की ओर अग्रेसर होता है। शास्त्रों के विपरीत कार्य करने से योग पूर्णतः प्रभावित होता है। वह वैसी अवस्था में पुरुष को अधोगामी बनाकर नरक-तमिस्रा में ढकेल देता है। इससे यही सिद्ध होता है कि नित्य, नैमित्तिक और आवश्यकता पड़ने पर प्रायश्चित्त कर्मों में संलग्न तथा काम्य और प्रतिषिद्ध कर्मों का वर्जन भी योगाङ्ग के ही अन्तर्गत आता है। यम-नियमों में उनका अन्तर्भाव हो जाता है। ईश्वरप्रणिधान इस प्रकार परिपुष्ट होता है। ईश्वरप्रणिधान ईश्वर में विशिष्ट भक्ति है।

भक्ति से ईश्वर आकृष्ट होते हैं और साधक को समाधि की ओर तत्पर करते हैं। भक्ति की प्रकृष्टसाधनता को मुनि ने स्वीकार किया है—

ईश्वरप्रणिधानाद् वा। — *योगसूत्र १.२३*

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वत:।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।। — *गीता*

इस वचन से स्वयं श्रीभगवान् भी अपवर्ग को अनुग्रहसाध्य स्वीकार करते हैं। श्रीभगवान् का अनुग्रह वेदप्रसूत मार्ग से ही सम्भव है, अत: वेदबाह्य बाह्याडम्बरप्रिय संग्रहपरायण योगी नहीं हो सकते। योग आत्मा की अगाधता की ओर बढ़ता है। योगी को विचलित भी कोई नहीं कर सकता। प्राण बचाने के लिए महिलावेश धारण करके वह पलायन भी नहीं करेगा। वह परमेश्वर के सन्निकट होता है अत: निर्भय, निरभिमान, नित्यतृप्त, आत्माराम और आप्तकाम होता है। द्रव्यसंग्रह के लिए प्रशिक्षण को वह पाप ही समझेगा।

यही विद्या सात्म्येन्द्रियव्यवहार है। सात्म्येन्द्रियव्यवहार ही 'नीरोग' योग की साधना है। योगसाधना निरोग करती है। स्वरूप से च्युत होकर विषयाभिमुख हो जाना ही घातक रोग है। योग को भोगोन्मुख कर देना भी उसे रोगी बनाना है। योग नीरोग होकर ही नि:श्रेयस में समर्थ होगा। योग को रोगी बना दिया जाय और असात्म्येन्द्रिव्यवहार किया जाय तो अनेक रोग होंगे। अत एव नीरोग योग की ही साधना करनी चाहिए।

मीमांसाविभागाध्यक्ष
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय
वाराणसी।

आचार्य शङ्कर का तान्त्रिक कृतित्व

आचार्य नटवरलाल जोशी

शङ्कराचार्यपादानां तन्त्रशास्त्रीयचिन्तनम्।
स्वीयग्रन्थेषु निर्दिष्टं स्पष्टमत्र विचार्यते।।

परिव्राजकाचार्य आचार्य शङ्कर अद्वैत वेदान्त के जितने महान् सूक्ष्म विवेचक तथा महनीय आलोचक शिरोमणि थे, तन्त्रशास्त्र के भी वे उतने ही मर्मज्ञ आचार्य, अन्तरालोडननिष्णात विद्वान् तथा तान्त्रिक विज्ञानवेत्ता थे। अद्वैत वेदान्त के इतिहास में उनके ग्रन्थ नितान्त प्रामाणिक एवं प्रख्यात हैं। शाक्ततन्त्र के अन्तर्गत त्रिपुरा सम्प्रदाय में भी उनकी रचनाएँ गम्भीर तथा विश्रुत हैं। आगम को निगम से एकान्तत: भिन्न मानने वाले आलोचकों की कमी नहीं है, परन्तु यथार्थत: दोनों का मञ्जुल सामरस्य ही निगमागममूलक भारतीय संस्कृति का मूलाधार है। मूलत: अन्वेषण करने पर वैदिक संहिताओं के मन्त्रों से तान्त्रिक तथ्यों की उपलब्धि आश्चर्यप्रसू नहीं है। कतिपय तथ्यों का ही यहाँ सङ्केत किया जा रहा है, जिससे शाक्त तन्त्र की वैदिक परम्परा की एक दिव्य झाँकी हमारे नेत्रों के सम्मुख उपस्थित हो जाती है।

श्रीविद्या का वैदिक स्रोत—श्रीविद्या का मूल तन्त्र सङ्केत *ऋग्वेद* के इस मन्त्र में सद्य: उपलब्ध होता है—

चत्वार ईं विभ्रति क्षेमयन्तो दश गर्भे चरसे धाययते।
त्रिधातव: परमा अस्य गावो दिवश्चरन्ति परिसद्यो अन्तान्।।

— *ऋग्वेद* ५.४७.४

सायणाचार्य ने इस ऋचा का आधिदैविक अर्थ सूर्यपरक किया है, परन्तु इसके दोनों आदिम पद मूल विद्या की ओर यहाँ स्पष्ट रूप से सङ्केत करते हैं, *सौन्दर्यलहरी* के टीकाकार लक्ष्मीधर का यह कथन इसका पक्का प्रमाण है। *तैत्तिरीय संहिता,*[१] ब्राह्मण एवं आरण्यक में इस तथ्य के पोषक प्रमाणों का नितरां बाहुल्य है। *तैत्तिरीय आरण्यक* में उपलब्ध[२] अरुणोपनिषद् अरुणा नाम्नी भगवती के कार्य-कलाप एवं माहात्म्य का

---

१. षोडशकलात्मकस्य श्रीबीजस्य गुरुसम्प्रदायवशाद् विज्ञेयस्य स्थितत्वात् चतुर्णामीङ्काराणां सिद्धे: मूलविद्याया: वेदस्थितत्वं सिद्धम्। (*सौन्दर्यलहरी* के पञ्चम श्लोक की लक्ष्मीधरी व्याख्या)

२. 1 प्रश्न 1-29

स्पष्टत: वर्णन करता है। इस अरुणोपनिषद् के द्रष्टा ऋषि का नाम अरुणकेतु है। अरुणा भगवती का वर्णन शङ्कराचार्य ने *सौन्दर्यलहरी* में इस रमणीय पद्य के द्वारा किया है—

अराला केशेषु प्रकृतिसरला मन्दहसिते
शिरीषाभा चित्ते दृषदुपलशोभा कुचतटे।
भृशं तन्वी मध्ये पृथुरुरसिजारोहविषये
जगत्त्रातुं शम्भोर्जयति करुणा काचिदरुणा।। — *सौन्दर्यलहरी* ९३

दोनों वर्णनों के तारतम्य परीक्षण से दोनों की साम्यता में कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता।

भगवती के चरणयुगल के अन्तराल से प्रवाहित होने वाली सुधाधारा[१] के लिए तैत्तिरीय ब्राह्मण का यह मन्त्र देखिए—

लोकस्य द्वारमर्चिमत् पवित्रं ज्योतिष्मद् भ्राजमानं महस्वत्।
अमृतस्य धारा बहुधा दोहमानं चरणं नो लोके सुधितान् दधातु।।[२]

दर्श आद्य पूर्णिमान्ता तिथियों के लिए देखिए *तैत्तिरीय शाखा* का *काठक ब्राह्मण* का 'इयं वाव सुरधा' अनुवाक तथा संज्ञानं विज्ञानं मन्त्र[३] इस प्रकार के वैदिक स्रोतों का अन्वेषण लक्ष्मीधर की व्याख्या के अन्वेषण से किया जा सकता है यहाँ केवल सूचना दी गई है।

वैदिक युग के अनन्तर यह धारा आगे बढ़ती गई। इस युग में शुभागमन पञ्चक[४] नामक ऋषि प्रणीत पाँच ग्रन्थों की उपलब्धि होती है। इन ग्रन्थों के प्रमाण तन्त्र ग्रन्थों में बहुलता से उपलब्ध होते हैं। *सौन्दर्यलहरी* की पूर्वोक्त व्याख्या में इनके उद्धरण मिलते हैं, जिससे १६ शती के पूर्व इन ग्रन्थों की सत्ता अनुमानत: सिद्ध होती है।

शङ्कराचार्य के गुरु गोविन्दाचार्य के गुरु आचार्य गौडपाद की रचना श्रीविद्या के विकास के निमित्त उपलब्ध होती हैं। इनकी दो तान्त्रिक रचनाएँ प्रकाशित हैं जिनमें एक है *श्रीविद्यारत्न सूत्र* जो सूत्रात्मक है। इसके टीकाकार श्री शङ्करारण्य हैं और दूसरी है *सुभगोदय स्तुति* दो प्रकार की है। श्लोकों की संख्या ५२ हैं। एक तो है लम्बे छन्दों में और दूसरा है केवल अनुष्टुप छन्द में। प्रथम प्रकार के छन्द का नमूना देखिए—

---

१. *सौन्दर्यलहरी*, पद्य 10

२. 3/12/3

३. *तैत्तिरीय ब्राह्मण* 3/10/1

४. *वशिष्ठ संहिता, सनक संहिता, शुक संहिता, सनन्दन संहिता* एवं *सनत्कुमार संहिता*—ये पाँचों संहिताएँ शुभागमन पञ्चक के नाम से प्रसिद्ध हैं।

भवानि त्वां वन्दे भवमहिषि सच्चित्सुखवपुः–
पराकारां देवीममृतलहरीमैन्दवकलाम्।
महाकालातीतां कलितसरणीकल्पितघनां
सुधासिन्धोरन्तर्वसतिमनिशं वासकमयीम्।।[१]

अनुष्टुप छन्दों वाले ग्रन्थों का निर्देश लक्ष्मीधर ने अपनी पूर्वोक्त व्याख्या में किया है जिस पर शङ्कराचार्य की तथा लक्ष्मीधर की भी व्याख्याएँ थीं। *वारुनासुभगोदयं* नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख मिलता है—

दर्शाद्याः पूर्णिमान्ताश्च कलाः पञ्चदशैव तु।
षोडशी तु कला ज्ञेया सच्चिदानन्दरूपिणी।।

गौडपादाचार्य की इन रचनाओं का प्रभाव आचार्य शङ्कर के ऊपर पर्याप्त रूपेण लक्षित होता है। एक तथ्य ध्यातव्य है कि जिस प्रकार गौडपाद के ग्रन्थ में अद्वैत वेदान्त के साथ त्रिपुरातन्त्र का मञ्जुल सामरस्य है, उसी प्रकार शङ्कराचार्य ने अद्वैत ग्रन्थों की रचना साथ–ही–साथ श्रीविद्या विषयक ग्रन्थों का भी निर्माण किया। आचार्य के दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—(१) *प्रपञ्चसार* तथा (२) *सौन्दर्यलहरी* । इनके अतिरिक्त शङ्कराचार्य के स्तोत्रों में, विशेषतः देवीविषयक स्तोत्रों में शाक्त तन्त्र की स्पष्टतः झलक दृष्टिगोचर होती है।[२] *ललितात्रिशतीभाष्य* तो पुङ्खानुपुङ्ख त्रिपुरा सम्प्रदाय के सिद्धान्तों से मण्डित एवं अभ्यर्हित है। प्रपञ्चसार के ऊपर आचार्य के साक्षात् शिष्य पद्मपादाचार्य की विवरण नाम्नी टीका की सत्ता इसे शङ्कराचार्य की प्रामाणिक रचना सिद्ध करने में सर्वथा समर्थ है। ३३ पटलों में विभक्त इस तन्त्र ग्रन्थ में अढ़ाई हजार से ऊपर श्लोक हैं जो मुख्यतया अनुष्टुप् ही हैं। कहीं–कहीं बड़े छन्द भी, परन्तु उनकी संख्या न्यून है। इसके आरम्भ के एकादश पटलों में तन्त्रशास्त्र के प्रसिद्ध तथ्यों का विवरण है तथा अन्य पटलों में नाना मन्त्रों देवता रूप, जय, फल तथा अनुष्ठानविधि का व्यवस्थित वर्णन मिलता है। *सूतसंहिता* और *पाराशर संहिता* की टीका में माधवाचार्य ने प्रपञ्चसार को शङ्कराचार्य कृत माना है। *शारदा तिलक* की टीका में राघव भट्ट भी यही कहते हैं। सम्मोहन तन्त्र में शङ्कर और उनके चार शिष्यों का वर्णन है। सौन्दर्यलहरी के शङ्कराचार्य की रचना होने में प्रचुर प्रमाण उपलब्ध हैं। आचार्य ने गौडपाद के सुभगोदय के अनुकरण में इस लहरी का निर्माण किया था। इस ग्रन्थ के ऊपर तीस के आस–पास टीकाएँ हैं। सर्वप्राचीन आचार्य के पट्टशिष्य सुरेश्वराचार्य की टीका है। शृङ्गेरी मठ में इस टीका की अतिप्राचीन प्रति आज भी उपलब्ध है। अवान्तर टीकाओं में लक्ष्मीधर की व्याख्या बड़ी ही प्राञ्जल, रहस्य प्रकाशिका तथा प्रमाणित है। ये उत्कल के मध्ययुगीन विशाल शासक राजा प्रताप रुद्रदेव के आश्रित थे, जो आन्ध्र के विद्याप्रेमी भूपाल राजा कृष्णदेव के समकालीन तथा जामाता भी थे (समय १६ शती)। *सौन्दर्यलहरी* के आरम्भ में ४१ पद्य श्रीविद्या के गम्भीर रहस्यों के प्रतिपादक हैं तथा

---

१. *श्री विद्यारत्न सूत्र*

२. ऐसे स्तोत्रों में *दक्षिणामूर्ति स्तोत्र* तथा *मीनाक्षी स्तोत्र* उल्लेखनीय हैं।

अन्तिम ५९ पद्य भगवती ललिता के ललित विग्रह का साहित्यिक वर्णनपरक है। इन दोनों ग्रन्थों के स्वरूप में भिन्नता नितान्त स्पष्ट है। *प्रपञ्चसार* एक समग्र तन्त्र ग्रन्थ है जिसमें तन्त्रोक्त नाना देवियों की उपासना का पूर्ण विधान दिया गया है। साथ में तन्त्र के सामान्य तथ्यों का विवरण भी उसकी पूर्णता के लिए दिया गया है। *सौन्दर्यलहरी* केवल श्रीविद्या का प्रतिपादक होने से त्रिपुरा सम्प्रदाय के तन्त्र सम्मत तथ्यों का ही विशिष्ट विवरण प्रस्तुत करती है। यह स्तोत्र मात्र है, परन्तु प्रपञ्चसार का क्षेत्र विस्तृत है। ग्रन्थ के आरम्भ में शारदा की प्रार्थना है—

अकचटतपयाद्यैः सप्तभिर्वर्णवर्गैः, विरचितमुखबाहापादमध्याख्यहृत्का।
सकलजगदधीशा शाश्वता विश्वयोनिर्वितरतु परिशुद्धिं चेतसः शारदा वः।।[१]

उपान्त्य पद्य में यह तभी अपने वर्णनीय विषयों का भी सङ्क्षिप्त सङ्केत एक ही पद्य में इस प्रकार करता है—

इत्थं मूलप्रकृत्यक्षरविकृति–लिपिव्रातजातग्रहर्क्ष–
क्षेत्राद्याबद्धभूतेन्द्रियगुण–रविचन्द्राग्निसम्प्रोतरूपैः।।

मन्त्रैस्तद्देवताभिर्मुनिभिरपि जपध्यानहोमार्चनाभिः
तन्त्रेऽस्मिन् यन्त्रभैदैरपि कमलज हे दर्शितोयं प्रपञ्चः।।[२]

इन्हीं तथ्य ग्रन्थों के ऊपर शङ्कराचार्य की तान्त्रिक दृष्टि का विवेचना प्रस्तुत है।

सौन्दर्यलहरी सिद्ध ग्रन्थ है। इसके प्रत्येक श्लोक मन्त्र रूप हैं। इसीलिए अभीष्ट सिद्धि के लिए विशिष्ट यन्त्रों के साथ इन श्लोकों के जपने की विधि परम्परा निर्धारित की है। मैसूर संस्कृत सीरीज में लक्ष्मीधर व्याख्या के साथ प्रकाशित इस ग्रन्थ में ये यन्त्र भी विधि–विधान के साथ दिए गए हैं। प्रपञ्चसार (मूल) का प्रकाशन श्रीरङ्गम् से शङ्कराचार्य ग्रन्थावली के अन्तर्गत किया गया है।

पूर्व प्राचार्य,
श्री ऋषिकुल विद्यापीठ लक्ष्मणगढ़,
सीकर, राजस्थान
दूरवाणी ०९६१०६१२९८०

❑

१. प्रपञ्चसार 1.1

२. प्रपञ्चसार, 36.62

भगवती ललिता के परम उपासक सार्वभौम सिद्ध मनीषी आचार्य शङ्कर

डॉ. आशीष कुमार जोशी

आचार्य शङ्कर के जीवन चरित्र के साङ्गोपाङ्ग अध्ययन एवं मनन करने पर उनका महान् व्यक्तित्व, प्रतिभापूर्ण पाण्डित्य, उदात्त चरित्र तथा अप्रतिम काव्य प्रतिभा का भव्य रूप अद्वितीय एवं असामान्य तथा असाधारण रूप में आलोचकों के समक्ष स्पष्ट रूप में प्रकट होता है। आचार्य का मानव जीवन आदर्श सम्पन्न था। गुरु तथा माता की उत्कृष्ट भक्ति, शिष्यों पर अनुपम प्रेम, भक्तों के प्रति असीम दया भाव का दृष्टिकोण आदि अनेक सद्गुणों का परस्पर सामञ्जस्य उनके चरित्र में सर्वत्र पाया जाता है। उनकी मानसिक शक्ति अपूर्व थी। मानव मस्तिष्क तथा हृदय का अपूर्व मिश्रण उनमें मिलता है। वस्तुत: आचार्य शङ्कर का बौद्धिक विकास चरम सीमा पर होते हुए भी उसमें हृदय का सामञ्जस्य पदे पदे परिलक्षित होता है। जितना विकास मस्तिष्क का मिलता है, उतनी ही हृदय की अभिव्यक्ति भी मिलती है। उनके विषय में पं. जवाहर लाल नेहरू के शब्द, "वह मस्तिष्क तथा बुद्धि एवं तर्क के धनी थे।"[१] उपर्युक्त विवेचना की पुष्टि करते हैं।

शङ्कराचार्य केवल दार्शनिकों के ही शिरोमणि नहीं हैं प्रत्युत उनकी गणना संसार के उन विचारकों में की जाती है, जिन्होंने अपने विचारों से मानव चिन्तन में एक नवीन क्रान्ति का सूत्रपात किया। वह वस्तुत: दर्शन जगत् के सूर्य हैं। उनकी दार्शनिकता, विद्वत्ता तथा पाण्डित्य का पता उनके ग्रन्थों से चलता है। अत: उनके सम्बन्ध में ये शब्द उल्लेखनीय हैं कि शङ्कराचार्य जैसे महान् दार्शनिक के महत्त्वाङ्कन में वह उसी प्रकार हास्य के पात्र बन जाते हैं जिस प्रकार कि बालक अपने हाथों से चन्द्रमा के पकड़ने का उद्योग कर उपहासास्पद बनता है।[२] उन्होंने प्रस्थानत्रयी[३] जैसे कठिन तथा दुरूह अध्यात्म ग्रन्थों का अभिप्राय: अपने भाष्य ग्रन्थों में इतनी सरलता तथा सुगमता से समझाया है, उनकी इस प्रतिभा से प्रभावित होकर अद्वैत वेदान्त के प्रसिद्ध विद्वान् मधुसूदन सरस्वती[४] ने यहाँ तक कहा है कि मैं उन व्यास की स्तुति नहीं करता जो सूत्रों के द्वारा भी

---

१. *डिस्कवरी ऑफ इण्डिया*

२. माधवाचार्य (14वीं शताब्दी)

३. *उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा गीता*

४. 16वीं शताब्दी

वेदान्त के समग्र तात्पर्य को ग्रथित नहीं कर सके। सूत्रों के बिना ही जिन्होंने वेदान्त के सफल तात्पर्य को (अपने भाष्य ग्रन्थों में) ग्रथित कर दिया, ऐसे शङ्कराचार्य और सुरेश्वर को मैं नमस्कार करता हूँ।

उनके भाष्यों की भाषा नितान्त रोचक, बोधगम्य तथा प्रौढ़ एवं प्राञ्जल है। शैली प्रसन्न-गम्भीर है। इन कठिन गम्भीर ग्रन्थों की व्याख्या इतनी प्रसादमयी वाणी में की गई है कि पाठक को पता नहीं चलता है कि वह किसी दुरूह विषय का अध्ययन-विवेचन कर रहा है। वङ्गीय विद्वान् ने उनके महत्त्व का मूल्याङ्कन करते हुए लिखा है, "शाङ्कर भाष्य प्रसन्न-गम्भीर है। शङ्कराचार्य का भाष्य अचल सिन्धु के समान गम्भीर, अटल पर्वत के समान अदृश्य, सूर्य के समान प्रोज्ज्वल और चन्द्रमा के समान सुशीतल है। विचार-तीक्ष्णता में शङ्कर साक्षात् सरस्वती हैं। शङ्कर दार्शनिक क्षेत्र में सार्वभौम सम्राट् हैं। वह चिन्ता राज्य के चक्रवर्ती और मनीषा में महाधिराज हैं।"[१]

उनका ज्ञान बड़ा ही व्यापक था। वह केवल वैदिक धर्म के मूल ग्रन्थों तक ही सीमित न था, प्रत्युत उनकी परिधि पर्याप्त विस्तृत थी, जिन मतों, सिद्धान्तों तथा सम्प्रदायों का निराकरण उन्होंने किया है, उनकी जानकारी उन्हें विशेष रूप से थी। बौद्ध, जैन, पाञ्चरात्र तथा पाशुपत, सांख्य, न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा आदि शास्त्रों में उनके निष्णात ज्ञान की अबाध गति की प्रतीति होती है। उनके सिद्धान्त अद्वैतवाद में अपूर्व समन्वय के दर्शन होते हैं। वस्तुत: शङ्कराचार्य द्वारा प्रतिष्ठित अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त इतना विशाल, उदार एवं समन्वयपूर्ण है कि इस विलक्षण सिद्धान्त में वैष्णवों, शैवों, शाक्तों, मीमांसकों, विशिष्टाद्वैतवादियों, द्वैतवादियों, वैदिकों, तान्त्रिकों, मान्त्रिकों—किसी भी प्रकार की आस्था, धर्म एवं क्रिया से सम्पन्न अन्य आगामी दार्शनिकों के लिए भी स्थान प्राप्त है।

शङ्कराचार्य भारतीय दार्शनिकों के मुकुटमणि हैं। जिस प्रकार कोई धनुषधारी अपना तीर चलाकर लक्ष्य को विद्ध कर देता है, उसी प्रकार आचार्य ने अपने तर्करूपी तीर चलाकर विपक्षियों के मूल सिद्धान्त को छिन्न-भिन्न कर दिया है। मूल सिद्धान्त के निराकरण करने में उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति रहती है। उस सिद्धान्त के खण्डित होते ही उनका प्रतिपादित मत सुग्राह्य तथा मान्य हो जाता है। अत: अनेक आधुनिक भारतीय एवं पश्चिमी विद्वानों ने शाङ्कर दर्शन एवं उनके व्यक्तित्व का गुणगान विभिन्न रूप में किया है। डॉ. घाटे ने शङ्कर अद्वैतवाद को सर्वोच्च कहा है। उनके अनुसार शङ्कर जैसी मानवीय विचारों की उन्नता अन्यत्र अलभ्य है। डॉ. दासगुप्ता के कथनानुसार शङ्कराचार्य द्वारा प्रतिपादित एवं उनके अनुयायियों द्वारा विकसित दर्शन का ऐसा प्रभाव है कि जब कभी हम वेदान्त दर्शन का नाम लेते हैं तो उससे शाङ्कर दर्शन का ही तात्पर्य होता है।

---

१. स्वामी प्रज्ञानन्द सरस्वती

डॉ. राधाकृष्णन शाङ्कर दार्शनिक सिद्धान्त को आध्यात्मिक गाम्भीर्य एवं तार्किक शक्ति में अद्वितीय मानते हैं। इसी प्रकार विद्वान् सर चार्ल्स इलियट के अनुसार शाङ्कर अद्वैतवाद स्थिरता, पूर्णता एवं गम्भीरता की दृष्टि से भारतीय दर्शन के क्षेत्र में प्रथम कोटि का है।

ई.वी.एफ. टौमलिन ने शङ्कराचार्य के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का मूल्याङ्कन करते हुए लिखा है कि वह उन सब दार्शनिकों में महान् हैं जिन्हें आज पश्चिम में प्राप्त प्रतिष्ठा की अपेक्षा अधिक प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए थी। इसी स्थल पर आगे टौमलिन का कथन है कि शाङ्कर दर्शन की दिशा लगभग वही थी जिसको उत्तरकाल में आकर जर्मन दार्शनिक कान्ट ने अपनाया। ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य के अनुवादक[१] का कहना है कि शङ्कराचार्य के धार्मिक वेदान्त की तुलना विचारों की निर्भीकता, गम्भीरता और सूक्ष्मता के क्षेत्र में न किसी शाङ्कर सिद्धान्त के विरोधी सिद्धान्त से की जा सकती है और न किसी अवेदान्तीय सिद्धान्त से।

शङ्कराचार्य के जीवन का प्रमुख लक्ष्य वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा तथा प्रचार था। उन्होंने अपने प्रखर व्यक्तित्व के बल पर इन समस्त अवैदिक अथवा अर्धवैदिक और नास्तिक सिद्धान्तों को जन सामान्य में अलोकप्रिय बना दिया। उनकी नि:सारता प्रमाणित कर दी तथा वेद-प्रतिपाद्य अद्वैतमत का विपुल ऊहापोह कर वैदिक धर्म को निरापद बना दिया। यही कारण है कि उन्हें साक्षात् शिव का अवतार माना गया है। अपनी विलक्षण दार्शनिक प्रतिभा के द्वारा शङ्कराचार्य ने एक ऐसे दार्शनिक सिद्धान्त की स्थापना की है, जो न एकदम भौतिकवाद है, न कोरा कर्मवाद और न शुष्क ज्ञानवाद। उनका अद्वैतवाद भक्ति, कर्म और ज्ञान, स्थूल और सूक्ष्म का समन्वयभूत सिद्धान्त है।

वैदिक ग्रन्थ दुरूह तथा क्लिष्ट संस्कृत प्रधान होने के कारण जन सामान्य के लिए उपेक्षित बने हुए थे। आचार्य शङ्कर ने श्रुति के मूर्धस्थानीय उपनिषदों की विशद व्याख्या कर जिस साहित्य की सृजना की वह भारतीय चिरन्तन संस्कृति की अमूल्य निधि है। *ब्रह्मसूत्र* और *गीता* पर उन्होंने अपने सुबोध भाष्यों का प्रणयन किया। वेदान्त दर्शन के क्षेत्र में भाष्य प्रणयन का उनका प्रयास सर्वप्रथम तथा सर्वोत्तम है। आज जिन आचार्यों के दार्शनिक सिद्धान्तों की तुलना शङ्कराचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों से की जाती है उनको भी भाष्य रचना की प्रेरणा आचार्य शङ्कर से प्राप्त हुई है। इस प्रकार वेदान्त दर्शन के क्षेत्र में भाष्य प्रणयन परम्परा के मूल प्रवर्तक हैं। साधारण लोगों के लिए उन्होंने प्रकरण ग्रन्थों की रचना कर अपने सिद्धान्त को बोधगम्य भाषा में सरल, सरस श्लोकों के द्वारा अभिव्यक्त किया है।

इतना ही नहीं, वेदान्त शास्त्र के सिद्धान्तों के विपुल प्रचार की अभिलाषा से उन्होंने अपने भाष्य ग्रन्थों पर वृत्ति तथा वार्तिक लिखने के लिए विद्वानों को प्रोत्साहित किया। शिष्यों के हृदय में उनकी प्रेरणा प्रभावशालिनी सिद्ध हुई। उन लोगों ने आचार्य से प्रेरणा ग्रहण कर जिस विपुल ग्रन्थ राशि का अद्वैत

---

१. डॉ. थीबो

प्रतिपादन के लिए प्रणयन किया है, उसकी रचना की प्रेरणा का मूल स्रोत आचार्य के ग्रन्थों में प्रवाहित हो रहा है। इस प्रकार अद्वैत साहित्य को जन्म देकर शङ्कर ने ऐसा प्रबन्ध कर दिया कि जिससे समग्र देश की जनता उनके द्वारा प्रचारित धर्म का मर्म समझे और कोई भी अद्वैत तत्त्व के उपदेश से वञ्चित न रह जाए। अत: न केवल वह (शङ्कराचार्य) ब्राह्मण जाति के महान् नेता हैं वरन् वह भारत की सम्पूर्ण जन भावनाओं को अधिगृहीत करते हुए सम्पूर्ण मानवता, जीव तत्त्व के सम्पोषक प्रतीत होते हैं।

धर्म संस्थापन कार्य को स्थायी बनाने के लिए शङ्कर ने संन्यासियों को सङ्घबद्ध करने का श्लाघनीय उद्योग किया। अपनी शिक्षा-दीक्षा, उपासना तथा निवृत्ति के कारण संन्यासी समाज का भलीभाँति उपदेशक हो सकता है। आचार्य ने इसीलिए उसे सङ्घबद्ध करने का सफल प्रयास किया। वस्तुत: विरक्त पुरुष ही धर्म का सच्चा उपदेश दे सकता है तथा अपना जीवन वैदिक धर्म के अभ्युदय एवं विकास में लगा सकता है। शङ्कर ने इस विरक्त संन्यासी वर्ग को एकत्र कर एक सङ्घ के रूप में सङ्गठित कर वैदिक धर्म के भविष्य फल कल्याण के लिए महान् कार्य किया। संन्यासी सङ्घ की स्थापना राष्ट्र एवं धर्म के हित में शङ्कर का अत्यन्त गौरवशाली कार्य है।

समस्त राष्ट्र की धार्मिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक एकता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए शङ्कर ने देश की चारों दिशाओं में चार पीठ[१] स्थापित किए। समस्त देश को धार्मिक दृष्टि से विभाजित कर उन्हें इन्हीं पीठों के अध्यक्षों के अधीन कर दिया था जिससे समस्त भारतीय जनता में सदैव धार्मिक जागृति समान रूप से बनी रहे। पीठ के प्रधान आचार्य अद्यपर्यन्त शङ्कराचार्य ही कहलाते हैं और जो कि घूम घूम कर लोगों में धार्मिक शिक्षा का प्रचार-प्रसार करते रहे हैं। इस प्रकार उनके द्वारा स्थापित चारों पीठों की भूमिका धर्म संस्कृति तथा शिक्षा का प्रसार करने वाले विश्वविद्यालय के समान रही है। वास्तव में आचार्य शङ्कर का यह पीठ स्थापन कार्य जन शिक्षा की दृष्टि से विश्व शिक्षा के इतिहास में अद्वितीय एवं अन्यत्र अलभ्य उदाहरण है।

शङ्कराचार्य में पाण्डित्य के साथ-साथ कवित्व का अनुपम सम्मेलन था। उनकी रचनाओं और काव्यों को पढ़कर विश्वास नहींहोता कि ये किसी तर्क निष्णात परम विद्वान् की रचना हैं। उनकी कविता रसभाव स्निग्धा हैं, वह आनन्द का अजस्र स्रोत हैं, यह उज्ज्वल अर्थ रत्नों की मनोरम मञ्जूषा है, कमनीय कल्पना की ऊँची उड़ान है। उसमें एक विचित्र मोहकता है, अनुपम भावुकता है जिसे लगता है। काव्य में शब्द सौन्दर्य इतना प्रभावशाली है कि शब्द माधुर्य का पानकर चित्त अन्य विषयों से हटकर इस मनोरम काव्य प्रवाह में प्रवाहित होने लगता है। उनके द्वारा रचित शिव, विष्णु, गणेश, शक्ति आदि के स्तोत्रों में उनके अद्भुत काव्य सौन्दर्य के दर्शन होते हैं।

---

१. उत्तर में ज्योतिष्पीठ, दक्षिण में शङ्गेरी पीठ, पूर्व में गोवर्धन पीठ तथा पश्चिम में शारदा पीठ।

आचार्य शङ्कर के रूप में हमें एक सर्वतोमुखी प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं। यह सब शङ्कराचार्य की ही प्रतिभा का फल है कि आज अद्वैत सिद्धान्त भारतीय जनता का व्यावहारिक धर्म बन गया है यह उनके व्यक्तित्व का साफल्य ही है कि दार्शनिक क्षेत्र में शाङ्कर वेदान्त को मानवीय मस्तिष्क की महत्तम उपलब्धियों में स्वीकार किया जाता है।

अल्पायु में ऐसा व्यापक कार्य उनके द्वारा सम्पन्न करते देखकर किसको आश्चर्य नहीं होगा?

अष्टम वर्ष में चारों वेदों का अध्ययन, द्वादश वर्ष में समग्र रूप से समस्त शास्त्रों का ज्ञान, सोलहवें वर्ष में भाष्य रचना और बत्तीस वर्ष में ब्रह्मलीनता को देखकर किसे आश्चर्य नहीं होगा?

आचार्य शङ्कर उच्च कोटि के प्रौढ़ दार्शनिक थे, जगत् से ममता छोड़ देने वाले संन्यासी थे, लोक के निर्वाह के लिए नितान्त व्यवहार कुशल पण्डित थे, कविता के द्वारा रसिकों के हृदय में आनन्द स्रोत बहाने वाले भावुक कवि थे, भगवती ललिता के परम उपासक सिद्धजन थे वह युगान्तरकारी सिद्ध पुरुष थे। उन्हें साक्षात् शङ्कर का अवतार माना जाता है। वह भगवान् की एक सतत दीप्तिमान् दिव्य विभूति हैं। इसीलिए उनकी आभा शताब्दियों के बीतने पर भी उसी प्रकार प्रद्योतित हो रही है। अत: यह कहना[१] समीचीन है कि, "हम शङ्कर के रूप में एक नि:सङ्ग तपस्वी विचारक की कल्पना कर सकते हैं, जो गम्भीर ध्यान में मग्न होने की क्षमता रखता था और साथ ही क्रियात्मक जीवन में गम्भीर था।"[२]

विभागाध्यक्ष,
साहित्य व व्याकरण
जी.आर. चमड़िया आचार्य संस्कृत महाविद्यालय,
फतेहपुर, सीकर
दूरवाणी ०९४६१८०४६००

❑

१. डॉ. राधाकृष्णन

२. *भारतीयदर्शन*

तन्त्रशास्त्र : सिद्धान्त और साधना

देवर्षि कलानाथ शास्त्री

तान्त्रिक साधनाएँ और अनुष्ठान पद्धतियाँ जितनी रहस्यात्मक रही हैं उतना ही रहस्य गुहा-निहित और अनिर्णीत है तन्त्रशास्त्र का इतिहास और सिद्धान्त समुच्चय। कुछ विद्वानों का यह मानना है कि तन्त्रशास्त्र की धारा भी उतनी ही पुरातन है जितने वेद, जो विश्व के पुस्तकालय की प्राचीनतम पुस्तक माने जाते हैं। उनका कहना है कि आर्यों का वाङ्मय वेदों में निहित है जबकि जनजातियों की साधना और लोक-मान्यताओं की उपासना का आधार है तन्त्र, जो एक अलग धारा का प्रतिनिधित्व करता है। तभी तो वेदों को निगम और तन्त्र को आगम कहा जाता है। उनके अनुसार शैवागम की परम्परा भी बहुत पुरानी है। आगम की व्युत्पत्ति वे यों कह कर करते हैं—'**आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजामुखे**।' शिव के स्वयं के मुख से आया होने के कारण यह आगम है। उसे फिर देवी ने अपने मुख से लोक में प्रसारित किया। इस प्रकार शैव और शाक्त तन्त्र शाखाएँ बनीं। उनका दर्शन विकसित हुआ, साथ ही अनुष्ठान प्रणाली अर्थात् साधना पद्धतियाँ पनपीं। यह अलग बात है कि आज तन्त्रशास्त्र की या तान्त्रिकों की जो छवि लोकमानस में पनपी हुई है, वह है टोना-टोटका करने वालों, घोर कापालिकों, शवसाधकों, श्मशान जगाने वाले अघोरियों और क्रूर अथवा डरावने साधकों या मारण, उच्चाटन आदि उलटे-सीधे सब तरह के क्रिया-कलापों में माहिर 'पञ्च मकारों' के शौकीन भैरव-देवी उपासकों की गुप्त साधना प्रणाली जिसे 'ऑकल्ट' कहा जाता है। इस छवि को पनपाने का श्रेय पाश्चात्य 'तान्त्रिक मिस्टिसिज्म' के तथाकथित विवेचकों को जाता है जिन्होंने सैकड़ों ग्रन्थ, यन्त्र-मन्त्र के आरेख छापते हुए, इस विषय पर छपाये और बेचे हैं।

निगम और आगम

इस प्रकार की उपासना पद्धति वैदिक यज्ञ-प्रक्रिया और बहुदेववाद से बिल्कुल अलग है। इसलिए उसे अलग-थलग धारा माना जाता है किन्तु कुछ विद्वानों ने यह भी सिद्ध किया है कि तन्त्र का आगम भी निगम से ही निकला है। रुद्र एक वैदिक देवता है जो पिनाकधर हैं, त्रिपुर विदारक हैं। वे ही तन्त्र के शिव और शैवागम के पशुपति आदिदेव बन गए और शैवतन्त्र विकसित हुआ। वाक् वैदिक देवी है जो गौरी, उमा, हैमवती आदि विभिन्न रूपों में उद्विकसित होती हुई 'शक्ति', महाकाली, दुर्गा और शाक्त तन्त्र की उपास्या बन गई। आज भी ऐसे विद्वान् 'वैदिक रात्रि सूक्त' और वाक् सूक्तों को तन्त्र का उत्स मानते हुए उनका पाठ तान्त्रिक उपासना के साथ भी करते हैं। तब यह अलग-थलग धारा कैसे हुई? इतिहास की यह रहस्यात्मक गुत्थी भी तन्त्र की तरह ही अनसुलझी गहराइयों में छिपी है। जो भी हो, यह तो स्पष्ट ही है कि ये दोनों धाराएँ

(निगम और आगम) कहीं से भी उद्‌गत हुई हों, पिछली सहस्राब्दियों में इनमें इतना पारस्परिक आदान-प्रदान और समन्वय हुआ है कि भारतीय वाङ्मय, साधना और जीवन में कौन-सा तत्त्व मूलत: धारा की थाती है, यह विश्लेषण कर अलग करना आज अति कठिन कार्य हो गया है। ॐकार, ह्रीङ्कार, वषट्, वौषट् और फट् इतने घुल-मिल गए हैं, आहुति देना और अङ्गन्यास, करन्यास करना इस प्रकार एकाकार हो गए हैं कि कौन किस परम्परा की देन है, यह कौन बता सकता है?

आधुनिक काल में हिन्दी माध्यम से तन्त्र शास्त्र पर अधिकृत रूप से लेखकर कर उसके बारे में सही जानकारी देने का सर्वाधिक स्तुत्य कार्य किया है काशी के पं. गोपीनाथ कविराज ने जिनके सन्दर्भ में जयपुर के विद्वान् सदा गौरवपूर्ण यह अभिलिखित करते आये हैं कि छात्रावस्था में गोपीनाथ कविराज महाराजा कॉलेज, जयपुर में शिक्षा प्राप्त करने आये थे। उन्होंने आगम के बीजाक्षरों, बिन्दु, चक्र, यन्त्र, सहस्रदल कमल, भूतशुद्धि, षट् चक्र भेदन आदि पारिभाषिक संज्ञाओं को स्पष्ट किया है, तन्त्र के सिद्धान्तों का विवेचन किया है तथा साधना के आधार बताये हैं किन्तु यदि कोई यह समझे कि पुस्तक पढ़ कर तथा पद्धति का अनुसरण कर वह तान्त्रिक साधक बन सकता है तो वह उसकी भ्रान्ति होगी क्योंकि इस साधना में गुरु से मन्त्र की दीक्षा लेना आवश्यक है। मन्त्र, तन्त्र और यन्त्र शब्दों से तो सामान्य जन भी परिचित हैं।

तन्त्र, मन्त्र, यन्त्र

मन्त्र जिस चिच्छक्ति का वाग्रूप है, यन्त्र उसी का दृग्रूप है अर्थात् आरेख है। ज्यामितिक डायग्राम की तरह बने यन्त्र उस साधना का नक्शा, कुञ्जी या ताबीज कहे जा सकते हैं जिसे मन्त्र वाणी से साधक की आत्मा में जाग्रत करता है। तन्त्र उस उपासना पद्धति की प्रक्रिया, प्रणाली या क्रियाविधि का नाम है। प्रत्येक उपासना में सर्वोच्च शिखर उस आराध्य का होता है जिसे देवता या परमगुरु कहा जाता है। तन्त्र के साथ यह शर्त जुड़ी हुई है कि उसे परम गुप्त रखा जाए। यही कारण है कि देवताओं का भी नाम सङ्केतों से लिया जाता है, मन्त्रों को अर्थात् बीजाक्षरों को भी सङ्केतों से बताया जाता है। इस रहस्यात्मकता का परिणाम यह हुआ है कि सहस्राब्दियों से चली आ रही तन्त्र परम्परा के हजारों ग्रन्थ गोपनीयता की गुहाओं में रखे-रखे ही विलीन हो गए तथा इसकी साधना की जानकारी भी अब क्षीण होती जा रही है। केवल भ्रान्त धारणाएँ और अफवाहें ही इसके बारे में फैली हुई है। तन्त्र के एक छोटे-से अङ्ग षट् कर्म को तन्त्र का बहुत बड़ा चमत्कार माना जाता है। षट् कर्मों में मारण, मोहन, उच्चाटन, स्तम्भन, शमन और विद्वेषण आते हैं, ये काम्य कर्म तन्त्र के अनुषङ्गी मात्र हैं, मूल साधना के अङ्ग नहीं। इसी प्रकार शव साधन, श्मशान साधन, अघोर तन्त्र आदि भी आनुषङ्गिक कार्य हैं, साधना नहीं।

सिद्धान्त

शैव और शाक्त तन्त्रों का दर्शन एक सुदीर्घ चिन्तन पर आधारित है। यह इच्छा, ज्ञान और क्रिया के समन्वय और पारस्परिक अन्त:क्रिया के परिणाम के रूप में समस्त सृष्टि और संहार प्रक्रिया को देखता है। समस्त सृष्टि मन, बुद्धि और ऊर्जा के समन्वय से चलती है। दूसरे शब्दों में चेतना (कांशसनेस), मस्तिष्क या बौद्धिक सम्पदा (इंटेलेक्ट) तथा शारीरिक या ऐन्द्रिय कार्य-कलाप—ये ही जीवन को गति देते हैं। ऊर्जा और चेतना, मन और बुद्धि—ये सब अमूर्त तत्त्व हैं। ये ही शिव हैं, ये ही शक्ति हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि पदार्थ विज्ञान या भूत शास्त्र जहाँ दृश्य एवं स्थूल पदार्थों का अध्ययन करता है, दूसरे शब्दों में मैटर (जिसे वेद विज्ञान कभी वाक् और कभी रायि शब्दों से सम्प्रेषित करता है) अथवा प्रकृति का विश्लेषण करता है वहाँ तन्त्र केवल अमूर्त, चिदात्मक, चैतन्य, अदृश्य तत्त्वों का शास्त्र है। ऊर्जा, क्रिया, मन, बुद्धि, चित्त, चैतन्य—ये सभी अमूर्त तत्त्व हैं। ये ही तन्त्र के अध्येय हैं।

इच्छा, ज्ञान और क्रिया पर आधारित दर्शन होने के कारण तन्त्र का दर्शन त्रिक दर्शन भी कहा जाता है। दर्शन की तरह तान्त्रिक साधना में भी त्रिकोणात्मक अभिगम इन्हीं तीन अमूर्त चैतन्य तत्त्वों के प्रतीक के रूप में समाहित है। यही कारण है कि जहाँ वैदिक और वैष्णव उपासना के देवताओं के दो नेत्र दिखाये जाते हैं वहाँ तान्त्रिक देवता त्रिनेत्र या त्र्यम्बक होते हैं। शिव, दुर्गा आदि सभी तान्त्रिक उपास्य देवों के तीन नेत्र अवश्य होंगे। भैरव, गणेश आदि जो भी देवता तान्त्रिक पद्धति से पूजे जाते हैं उनके भी तीन नेत्र ही चित्रित होंगे। ये तीन नेत्र कहीं-कहीं सूर्य, चन्द्र और अग्नि के प्रतीक बताये जाते हैं और जहाँ कहीं इच्छा, ज्ञान और क्रिया के। बहुधा वैज्ञानिक विश्लेषण के नाम पर सामान्य जन को प्रभावित करने की दृष्टि से कुछ लोग इन तीन नेत्रों को मन, पदार्थ और ऊर्जा अर्थात् माइण्ड, मैटर और एनर्जी का प्रतीक बताते हैं और समझाते हैं कि भौतिक विज्ञान जहाँ मैटर और एनर्जी तक ही अर्थात् पदार्थ और ऊर्जा तक ही पहुँचता है वहाँ तन्त्र तीन तत्त्वों को सामने रख कर चलता है—मैटर, एनर्जी और इंटेलेक्ट। ये ही प्रणव अर्थात् ॐकार में समाहित हैं, उनकी तीन अथवा ढाई मात्राएँ—अ+उ+म् इन्हीं का प्रतिनिधित्व करती हैं आदि। उनका विवेचन तो उचित है किन्तु जहाँ तक तन्त्र का सम्बन्ध है वह भूत स्थिति अथवा पदार्थ को अपने क्षेत्र में शामिल न करते हुए शुद्ध चैतन्यात्मक तत्त्वों को समाहित करके चलने वाला शास्त्र ही है। पदार्थ शव है, चैतन्य उसे शिव बनाता है। जहाँ से पदार्थ में चैतन्य उत्पन्न करने वाली शक्ति शुरू होती है, वहीं से तन्त्र की आधारभूमि शुरू होती है। उससे पदार्थ, जगत्, पञ्च महाभूत आदि की सृष्टि और प्रलय होते रहते हैं वह बात अलग है किन्तु तन्त्र की परिधि में पदार्थ या पञ्चभूत नहीं आते।

जहाँ तक साधना का सम्बन्ध है, तान्त्रिक साधना पाञ्चरात्र उपासना विधि से निकली है यह वेद-पुराणादि के विवेचकों और समर्थकों का कथन है जबकि आगम पद्धति के विद्वान् निगम और आगम की दो

स्वतन्त्र धाराएँ अलग-अलग मानते हैं, यह बताया जा चुका है। आगम शाखा दो प्रकार की मानी जाती है—शैव और शाक्त। इन्हीं की प्रशाखाएँ गाणपत्य और भैरव, हनुमान्, सूर्य आदि (यदि वे तान्त्रिक पद्धति से पूजे जा रहे हैं) की पूजा पद्धति के रूप में फैलती गई हों, वह बात अलग है।

शैव और शाक्त तन्त्र

दर्शन के क्षेत्र में शैवागम की परम्परा बहुत पुरानी है जिसके आचार्य उत्पल, सोम, अभिनव गुप्त आदि प्रसिद्ध हैं। उपासना के क्षेत्र में भी शैव उपासना के वीरशैव, पाशुपत (लकुलीश) अघोर आदि सम्प्रदाय बहुत पुराने हैं किन्तु साधना और मूर्ति पूजा दोनों की परम्पराएँ शाक्त तन्त्र में इतनी विकसित हो गईं कि शक्ति पूजा प्रमुख हो गई। शैव उपासना अथवा भैरव आदि की उपासनाएँ उसी का सैद्धान्तिक और आचारगत विस्तर रह गईं। चिच्छक्ति की रश्मियों से इच्छा शक्ति को प्रबल करता हुआ तान्त्रिक साधक मन्त्रों को जप, यन्त्रों की पूजा, स्तोत्रों के पाठ, शक्ति के दृश्य चित्रों या मूर्तियों की पूजा आदि साधनाओं के अतिरिक्त शव साधना और श्मशान साधना तक करते हुए इस देश के साहित्य और संस्कृति के साथ बड़े रहस्यात्मक रूप में जुड़ा हुआ है। वह चाहे कौल हो या वाममार्गी, कापालिक हो या अघोरी अथवा सात्त्विक उपासना या दक्षिणाचार की उपासना का अनुयायी हो, उसी शक्ति पूजा के पथ का पथिक है। यह साधना चेतना शक्ति को प्रबल करती है। अन्य सिद्धियाँ उसी का अङ्ग हैं।

दश महाविद्याएँ

इस तान्त्रिक शक्ति पूजा की जो विभिन्न धाराएँ चली उनमें रहस्यात्मक उपासना में दश महाविद्याओं (गुह्य विद्याओं) की साधना की शाखा प्रमुख थी। उसी का एक अन्य आयाम पौराणिक नव दुर्गाओं के रूप में फैला। दश महाविद्याएँ हैं—काली, तारा, षोडशी (श्रीविद्या या त्रिपुरसुन्दरी), छिन्नमस्ता, भुवनेश्वरी, त्रिपुरभैरवी, धूमावती, वल्गामुखी (जिसे बगलामुखी भी कहा जाता है)। मातङ्गी और कमला। इन सबकी मानवीय रूप में अवधारणा करके इनके ध्यान विकसित किए गए। अलग-अलग बीज मन्त्र बताये गये तथा पूजा के विभिन्न प्रकार वर्णित किए गए। प्रत्येक देवी (शक्ति) की पूर्णता के लिए उनके शिव (जिन्हें क्रियात्मक उपासना में भैरव के रूप में पूजा जाता है) की अवधारणा की गई। शिव और शक्ति का यह संयोग ही तो इच्छा और क्रिया का संयोजन है। इन उपासनाओं को इतना गुप्त रखा जाता था कि इन महाविद्याओं का नाम लेना भी उचित नहीं समझा जाता था। आद्या (प्रथम महाविद्या अर्थात् काली), द्वितीया (तारा) इस प्रकार के सङ्केतों से इन्हें अभिहित किया जाता था। आज भी आद्याचरण या आद्यादत्त जैसे नाम कालीचरण या कालीदत्त के पर्याय के रूप में बङ्गाल, मिथिला आदि प्रदेशों मे सुपरिचित हैं।

नव दुर्गाएँ

महाविद्याओं की तान्त्रिक उपासना के समानान्तर पौराणिक दुर्गा पूजा की भी अनेक पद्धतियाँ तथा शृङ्खलाएँ विकसित हुईं। सिंहवाहिनी दुर्गा के ही विभिन्न प्रतीकों के रूप में नव दुर्गाएँ गिनाई गईं, जिनके नाम हैं—शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघण्टा, कूष्माण्डा, स्कन्दमाता, कात्यायनी, कालरात्रि, महागौरी और सिद्धिदात्री। सैकड़ों वर्षों से चल रही कन्या पूजन (वर्जिन वर्शिप) की परम्परा के साथ ये नौ दुर्गाएँ जुड़ी हुई हैं। नवरात्र के दिनों की गणना के साथ इनका तालमेल बैठ जाता है। इसीलिए साधक आश्विन शुक्ल अष्टमी को (जिसे महाष्टमी या दुर्गाष्टमी भी कहा जाता है) नौ कन्याओं का नवदुर्गाओं के रूप में पूजन करते हैं। महिषासुर मर्दिनी दुर्गा, चण्ड-मुण्ड आदि का संहार करने वाली चामुण्डा और शुम्भ-निशुम्भ आदि का वध करने वाली अम्बिका शक्ति के चरित्र का महत्त्व स्पष्ट करने के लिए पौराणिक उपाख्यान प्रचलित हैं जिससे इनकी तान्त्रिक रहस्यात्मक उपासना के साथ भक्ति मार्ग का ऐसा सङ्गम हो गया है कि इनका नीर-क्षीर विवेक करना कठिन हो जाता है। बेशक, महाविद्याओं की उपासना तान्त्रिक यन्त्रों (आरेखों) से कुछ आगे भी बढ़ी तो केवल उनके मानवीकरण और देवी के रूप में ध्यान तक ही सीमित रही, उनके पौराणिक चरित्र वर्णित किए गए। तन्त्र के रहस्य और पुराण की भक्ति का यह गङ्गा-जमुनी तालमेल कश्मीर की 'वैष्णो' देवी की यात्रा के समय उन्हें माता मानकर भजन गाते, नाचते, झूमते हुए जाने वाले भक्तों से लेकर महिषमर्दिनी की मूर्ति की आरती उतारे और नाचते बङ्गाली भक्तों तक में देखा जा सकता है। भक्ति की इस धारा ने किसी भी उपासना की शाखा को तरल बनाये बिना नहीं छोड़ा। मामला यहाँ तक गया कि पुराणों में से किसी ने इस शक्ति को विष्णु की ही महामाया बना दिया (ताकि वैष्णव सम्प्रदाय से तालमेल बैठा रहे) किसी ने शिव की पत्नी पार्वती। पार्वती को ही काली चित्रित कर महाकाली के रूप में देखा गया और गौरी के रूप में शिव की अर्धाङ्गिनी बताया गया (ताकि शैव सम्प्रदायों से समन्वय रह सके)। समन्वय की यह भावभूमि भारत की समूची संस्कृति में बहने वाली चिरन्तन अन्त:सलिला धारा का अजस्र आधार है।

अभय की देवी

सृष्टि, स्थिति और संहार की यह देवी पुराणों में जहाँ ब्रह्मा, विष्णु, महेश—इस त्रिदेव समष्टि के साथ जुड़ गई, वहाँ साधना भूमि में जीवन और मृत्यु की चिरन्तन रहस्य विद्या ही बनी रही। महाकाली शव पर चिताभूमि के मध्य खड़ी हैं। यह शव उसकी चित् शक्ति के स्पर्श मात्र से शिव बन जाता है। नरमुण्डों की माला धारण किए हुए, जीभ लपलपाती हुई यह संहार की देवी अपनी एक मुस्कान से सृष्टि की चिरन्तन सृजन प्रक्रिया का प्रारम्भ कर देती है। इसकी उपासना दोनों ही क्रमों से की जाती है। सृष्टि से संहार की ओर जाने वाला क्रम और संहार से सृष्टि की ओर आने वाला क्रम। मातृकाओं में व्यञ्जन शृङ्खला का आदिम अक्षर है 'क' और अन्तिम 'ह'। आप क से शुरू करके ह तक जाएँ या ह से क तक (इन्हीं को 'कादि' और 'हादि' के रहस्यात्मक सङ्केतों से अभिहित किया जाता है) सृष्टि और संहार के आवर्तन की यह शृङ्खला तो

त्यों की त्यों बनी रहेगी। यदि सृष्टि से प्रारम्भ करें तो संहार अवश्यम्भावी है, परन्तु संहार से शुरू करेंगे तो वह भी अन्ततः सृष्टि तक ले ही जाएगा। आदि शक्ति की पूजा सृष्टि और संहार के इस अनादि चक्र का रहस्य समझाती है, यही सबसे बड़ा भय है जिसका वह नाश करती है। असुरों का, राक्षसों का, शत्रु का, ये सारे भय उस भय के सामने कोई चीज नहीं। यह भयङ्कर महाकाली उस भय पर आनन-फानन में विजय दिला देती है। यही तो है रहस्य इसके महाभीषण स्वरूप का, इसकी लपलपाती जीभ और लाल-लाल आँखों का। इसी चामुण्डा के सामने महिष की बलि देकर मैसूर नरेश नवरात्रों की सम्पन्नता के बाद विजयदशमी का महोत्सव मनाते हैं। राजस्थान में आमेर की शिलादेवी, करौली की कैलादेवी, बीकानेर की करणीमाता— सभी उसी शक्ति का रूप हैं।

राष्ट्रपति सम्मानित विद्वान्,
अध्यक्ष, आधुनिक संस्कृत पीठ,
जगद्गुरु रामानन्दाचार्य राजस्थान,
संस्कृत विश्वविद्यालय,
भूतपूर्व अध्यक्ष, राजस्थान संस्कृत अकादमी तथा
निदेशक, संस्कृत शिक्षा एवं भाषा विभाग, राजस्थान सरकार,
सी-८, पृथ्वीराज रोड,
जयपुर ३०२००१

शक्तिपीठों की देह में भावस्थिति

प्रो. श्रीकिशोर मिश्र 'यागानन्दनाथ'

भगवती पराम्बा के द्वारा अधिष्ठित इक्यावन शक्तिपीठ मानव के लिए समग्र सौभाग्य का वितरण करते हैं, यह भारतीय आस्तिकों का सुदृढ़ विश्वास है। भारतवर्ष की पुण्यभूमि में विभिन्न भागों में ये शक्तिपीठ अवस्थित हैं, जिनके दर्शन, सेवन से विविध कामनाओं की पूर्ति होती है। प्रत्येक आस्तिक भक्त की यह अभिलाषा रहती है कि इन शक्तिपीठों का दर्शन अपने जीवन में एकबार अवश्य करना चाहिये। परन्तु अनेक परवशताओं के कारण सब शक्तिपीठों की तीर्थयात्रा कदाचित् सम्भव नहीं हो पाती है। ऐसी स्थिति में भगवती पराम्बा के सान्निध्य तथा अनुग्रह से भक्तजन वञ्चित न हो सकें, इस दृष्टि से शास्त्रकारों ने प्राणी के शरीर में भी एकपञ्चाशत् शक्तिपीठों की अवस्थिति प्रतिपादित की है।

वस्तुत: भगवती पराम्बा महात्रिपुरसुन्दरी स्वयं ५१ शक्तिपीठस्वरूपा हैं। श्रीललितासहस्रनामों में उनका सङ्कीर्तन 'पञ्चाशत्पीठरूपिणी' नाम से किया गया है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि 'पञ्चाशत्' शब्द ५१ संख्या का द्योतक है। क्योंकि शास्त्रों में अनेक स्थलों पर 'पञ्चाशत्' शब्द से एकपञ्चाशत् (५१) संख्या का बोधन कराया गया है। उदाहरणार्थ—*शारदातिलक* में **'नित्यानन्दवपुर्निरन्तरगलत्पञ्चाशदर्णै: क्रमात्'** की व्याख्या हर्षदीक्षाचार्य ने ५१ के रूप में की है। इसी प्रकार *तन्त्रसङ्ग्रह* आदि में —**'श्रीकण्ठाद्याश्च पञ्चाशत् पञ्चाशत् केशवादय:'** इत्यादि प्रयोग ५१ संख्यापरक ही हैं।

इस प्रसङ्ग में 'पञ्चाशत्पीठरूपिणी' अभिधान से यह सन्देह नहीं होना चाहिये कि शक्तिपीठों की संख्या पचास है क्योंकि 'पीठानि पञ्चाशदेकञ्च' इत्यादि अनेक उल्लेखों से शक्तिपीठों की संख्या ५१ निर्णीत की गयी है। इस नाम में भी 'रूप' शब्द से एक संख्या का अर्थ प्राप्त होता है। क्योंकि *पिङ्गलसूत्र* (८/२९) में 'रूपे शून्यम्' में रूप का अर्थ हलायुध भट्ट आदि ने एक संख्या माना है। अत: 'पञ्चाशत्पीठरूपिणी' का अर्थ भी इक्यावन शक्तिपीठों की साक्षात् विग्रहभूता भगवती श्रीललिता हैं।

समस्त शक्तिपीठों की आत्मयाग के प्रसङ्ग में देह में अवस्थिति की जाती है। भक्त-साधक अपने शरीरावयवों में मातृकाओं का न्यास करता है। उसी प्रकार उन-उन अङ्गों में पीठों का भी न्यास किया जाता है। *योगिनीहृदय* में कहा गया है—

पीठानि विन्यसेद् देवि मातृकास्थानके प्रिये।
तथा- **एते पीठा: समुद्दिष्टा मातृकारूपकास्थिता:।।**

ब्रह्माण्डपुराण में भी—

ततः पीठानि पञ्चाशदेकं च क्रमतो न्यसेत्।

इस विधान से तत्तद् देहाङ्गों में शक्तिपीठों का न्यास किया जाता है। *ज्ञानार्णव* में भी '**पञ्चाशत्पीठविन्यासं मातृकावत् स्थले न्यसेत्**' इस पीठन्यासविधि में इक्यावन पीठों का न्यास निर्दिष्ट है। अतः कामरूपपीठ से छायाछत्रपीठ-पर्यन्त अखण्ड स्वरूपवाली भगवती महात्रिपुरसुन्दरी का अनुग्रह स्वदेह में पीठन्यास से प्राप्त होता है।

मातृकान्यास के सोलह स्वरों, तैंतीस व्यञ्जनों तथा ळकार एवं क्षकार—इन इक्यावन वर्णों के साथ इक्यावन पीठों का तत्तद् अङ्गों में इस प्रकार न्यास किया जाता है—

1. अं कामरूपाय नमः, शिरसि।
2. आं वाराणस्यै नमः, मुखवृत्ते।
3. इं नेपालाय नमः, दक्षनेत्रे।
4. ईं पौण्ड्रवर्धनाय नमः, वामनेत्रे।
5. उं पुरस्थितकाश्मीराय नमः, दक्षकर्णे।
6. ऊं कान्यकुब्जाय नमः, वामकर्णे।
7. ऋं पूर्णशैलाय नमः, दक्षनासापुटे।
8. ॠं अर्बुदाचलाय नमः, वामनासापुटे।
9. ऌं आम्रातकेश्वराय नमः, दक्षगण्डे।
10. ॡं एकाम्राय नमः, वामगण्डे।
11. एं त्रिस्रोतसे नमः, ऊर्ध्वोष्ठे।
12. ऐं कामकोटये नमः, अधरोष्ठे।
13. ओं कैलासाय नमः, ऊर्ध्वदन्तपङ्क्तौ।
14. औं भृगुनगराय नमः, अधोदन्तपङ्क्तौ।
15. अं केदाराय नमः, जिह्वाग्रे।
16. अः चन्द्रपुष्करिण्यै नमः, कण्ठे।
17. कं श्रीपुराय नमः, दक्षबाहुमूले।
18. खं ओड्डाराय नमः, दक्षकूर्परे।
19. गं जालन्धराय नमः, दक्षमणिबन्धे।
20. घं मालवाय नमः, दक्षकराङ्गुलिमूले।
21. ङं कुलान्तकाय नमः, दक्षकराङ्गुल्यग्रे।

22. चं देवीकोटाय नमः, वामबाहुमूले।
23. छं गोकर्णाय नमः, वामकूर्परे।
24. जं मारुतेश्वराय नमः, वाममणिबन्धे।
25. झं अट्टहासाय नमः, वामकराङ्गुलिमूले।
26. ञं वैराजायै नमः, वामकराङ्गुल्यग्रे।
27. टं राजगेहाय नमः, दक्षोरुमूले।
28. ठं महापथाय नमः, दक्षजानुनि।
29. डं कोलापुराय नमः, दक्षगुल्फे।
30. ढं एलापुराय नमः, दक्षपादाङ्गुलिमूले।
31. णं कालेश्वराय नमः, दक्षपादाङ्गुल्यग्रे।
32. तं जयन्तिकायै नमः, वामोरुमूले।
33. थं उज्जयिन्यै नमः, वामजानुनि।
34. दं चित्रायै नमः, वामगुल्फे।
35. धं क्षीरिकायै नमः, वामपादाङ्गुलिमूले।
36. नं हस्तिनापुराय नमः, वामपादाङ्गुल्यग्रे।
37. पं उड्डीशाय नमः, दक्षपार्श्वे।
38. फं प्रयागाय नमः, दक्षपार्श्वे।
39. बं षष्ठीशाय नमः, पृष्ठे।
40. भं मायापुर्यै नमः, नाभौ।
41. मं जलेशाय नमः, जठरे।
42. यं मलयाय नमः, हृदये।
43. रं श्रीशैलाय नमः, दक्षस्कन्धे।
44. लं मेरवे नमः, गलपृष्ठे।
45. वं गिरिवराय नमः, वामस्कन्धे।
46. शं महेन्द्राय नमः, हृदयादिदक्षकराङ्गुल्यन्तम्।
47. षं वामनाय नमः, हृदयादिवामकराङ्गुल्यन्तम्।
48. सं हिरण्यपुराय नमः, हृदयादिदक्षपादाङ्गुल्यन्तम्।
49. हं महालक्ष्मीपुराय नमः, हृदयादिवामपादाङ्गुल्यन्तम्।
50. ळं ओड्याणाय नमः, हृदयादिगुह्यान्तम्।
51. क्षं छायाच्छत्राय नमः, हृदयादिमूर्धान्तम्।

इस प्रकार पीठन्यास के द्वारा भक्त अपने देह में समस्त शक्तिपीठों की अवस्थिति की भावना करता है। ये समस्त तीर्थस्थान भी भारतीय परम्परा में भगवदङ्गात्मक माने गये हैं। *श्रीमद्भागवत* में वर्णित है—

याः काश्च भूमौ दिवि वै रसायां
विभूतयो दिक्षु महाविभूते।
ता मह्यमाख्याह्यनुभावितास्ते
नमामि ते तीर्थपदाङ्घ्रिपद्मम्।। (११/१६/५)

इस आध्यात्मिक भावस्थिति के साथ राष्ट्रीय दृष्टि से भी सम्पूर्ण आर्यावर्त-भारतवर्ष के पुण्यक्षेत्रों की अवस्थिति अपने शरीर में अनुभव करते हुए गौरव प्राप्त करता है। अपनी मातृभूमि के प्रति यह स्वात्मार्पण सनातन धर्म की अद्वितीय विशेषता है।

संस्कृतविभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी।

❑

श्रीविद्या साधना एवं स्त्री की देवीरूपता

प्रो. कमल किशोर भारद्वाज 'कमलरुद्रदेवानन्दनाथ'

'विद्या' क्या है? इस विषय में *सप्तशती* में उल्लेख है—

सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतु-भूता सनातनी। (२/७)
विद्याऽसि सा भगवती परमा हि देवी। (४/९)

परम मुक्ति की हेतु-भूता देवी ही 'विद्या' है। अत: परममुक्ति प्रदायिनी श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी ही 'श्रीविद्या' है। आचार्य शङ्कर की *प्रश्नोत्तरी* में कहा गया है—**'विद्या हि का?' 'ब्रह्मगति-पदा या'**—जो ब्रह्म-गति प्रदान करती है, वही विद्या है। श्रीयुक्त 'विद्या' ही 'श्रीविद्या' है। प्रश्न उठता है कि श्रीयुक्त कौन है? उसका उत्तर भी भगवत्पाद शङ्कर ने दिया है—**'श्रीमांश्च क:?' 'यस्य समस्ततोष:'** जिसके पास सकल सन्तोष विद्यमान है, वही श्रीमान् है। इसलिए श्रीविद्या सन्तोष के साथ ब्रह्मगति प्रदान करने वाली अपूर्व विद्या है। अत: कहा गया है— **मोक्षकहेतुविद्या सा, श्रीविद्या नात्र संशय:।।** — *ललितात्रिशती ११२*

श्रीविद्या ही मोक्ष का एकमात्र कारण है। यह नि:सन्देह है। इन विद्या को जानने वाले लोगों के लिए ही 'विद्वान्' शब्द प्रयुज्य है—

न शिल्पादिज्ञानयुक्ते विद्वच्छब्द: प्रयुज्यते।
मोक्षकहेतुविद्या सा श्रीविद्यैव न संशय:।।
तस्माद् विद्याविदेवात्र विद्वान् विद्वानितीर्यते।। — *ललितात्रिशती ११३-११४*

शिल्पादिज्ञान लब्ध व्यक्तियों के लिए 'विद्वान्' शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता। केवल मोक्षप्रदा विद्या 'श्रीविद्या' का साधक ही यथार्थ विद्वान् है। अत: 'श्रीविद्या' ही ब्रह्मविद्या है।

देवियों के बीच में जैसे राजराजेश्वरी महात्रिपुरसुन्दरी ललिता शुद्धातिशुद्ध पराविद्या महाशक्ति हैं, वैसे ही मन्त्रों के बीच में उनका मन्त्रराज तथा विद्याओं में 'श्रीविद्या' सर्वश्रेष्ठ गुह्यातिगुह्य ब्रह्म विद्या है। यह मन्त्र अत्यन्त गोपनीय होने के कारण, दूसरे मन्त्रों की तरह पुस्तकों में इसका स्पष्ट उल्लेख दिखाई नहीं देता। जो परम्पराक्रम से दीक्षित और विज्ञ हैं, वे नहीं लिखते। जो लिखते हैं, वे अदीक्षित होने के कारण नहीं जानते हैं। इसीलिए पुस्तक में पढ़कर बिना गुरु के उपदेश के मन्त्र जप करना निष्फल कहा गया है—

पुस्तके लिखिता विद्या, येन सुन्दरी जप्यते।
सिद्धिर्न जायते देवि! कल्प-कोटिशतैरपि।।

पुस्तके लिखितान् मन्त्रानवलोक्य जपेत् तु यः।
स जीवन्नेव चाण्डालो, मृतः श्वानो भविष्यति।। — *साङ्ख्यायनतन्त्र*

पुस्तके लिखितान् मन्त्रान्, विलोक्य प्रजपन्ति ये।
ब्रह्महत्यासमं तेषां, पातकं परिकीर्तितम्।।

मन्त्र जपने की प्रक्रिया के अनुसार गुरुकृत—१. जनन, २. दीपन, ३. ताड़न, ४. बोधन, ५. अभिषेक, ६. विमलीकरण, ७. जीवन, ८. तर्पण, ९. गोपन, १०. आप्यायन— आदि दस संस्कारपूर्वक मन्त्र चैतन्य होने पर ही मन्त्र फलप्रद होता है। यही शास्त्र कहता है और अनुभूति से भी ज्ञात होता है। इसके अतिरिक्त मन्त्र के ऋषि, छन्द, देवता आदि का ज्ञान भी अतिआवश्यक है। कहा भी है—

ऋषिछन्दोऽपरिज्ञानान्न मन्त्रः फलदो भवेत्।
दौर्बल्यं याति मन्त्राणां, विनियोगमजानताम्।।
ऋषिछन्दोदेवतानां, विन्यासेन विना यदि।
करोति साधको यच्च, तत् सर्वं विफलं भवेत्।।
अविदित्वा ऋषिं छन्दो, दैवतं योगमेव च।
योऽध्यापयेज्जपेद् वापि, पापीयान् जायते तु सः।।

आजकल हर व्यक्ति अपने को स्वतन्त्र और सम्पूर्ण समझता है। कोई किसी की परवाह नहीं करता। सभी मन्त्र जानने के लिए आग्रही हैं। बिना विश्वास और सम्प्रदाय के सब मन्त्रों के ऊपर कलम चलाते फिर भी '**सम्प्रदायविश्वासाभ्यां सर्वसिद्धिः**' (*परशुराम कल्पसूत्र २.६*) यह शास्त्र का वचन है। शिष्यों की बात तो बहुत दूर, आजकल अनेक गुरुओं को भी सम्प्रदाय परम्परा नहीं है। नियम यह है कि सद्गुरु एक वर्ष तक शिष्य को अपने पास रखकर शिक्षा दे और परीक्षा करने के बाद ही मन्त्र दान करें। यथा—

गुरुता शिष्यता वाऽपि, तर्योर्वत्सरवासतः।
सद्गुरुं स्वाश्रितं शिष्यं, वर्षमेवं परीक्षयेत्।।

किन्तु आज समय के अभाव से योग्य गुरु की गुरुता समझ नहीं सकता और व्याकुल गुरु शिष्य की पात्रता की परीक्षा करने के लिए धैर्य नहीं रखते। फलस्वरूप '**गुरवो बहवः सन्ति, शिष्यवित्तापहारकाः**' '**गुरुस्तु विरलो लोके, शिष्यसन्तापहारकः**' की उक्तियाँ चरितार्थ हो रही हैं। शिष्य-वित्तापहारक गुरुओं का जय गान होता है, किन्तु शिष्य सन्तापहारक गुरु सर्वदा आत्मलीन तथा साधना मग्न हैं।

श्रीविद्या परम्परा में मन्त्र प्राप्ति कठिन तथा श्रम साध्य है। इसमें सब मन्त्रों की विनियोग पद्धति गुरुमुखगम्य ही है। सभी देवताओं के मन्त्रों की विनियोग पद्धति गुरुमुखगम्य ही है। सभी देवताओं के मन्त्रों का पुरश्चरण, जप, होम, ब्राह्मण भोजनादि दशांश क्रम से करने के बाद अन्त में 'श्रीविद्या' की बारी आती है। अतः श्रीविद्या उपासकों का सर्वमन्त्राधिकार शास्त्र स्वीकृत है। 'श्रीविद्या मन्त्र' से ही ब्रह्मा, विष्णु के

दशावतार, एकादश रुद्र, देवी के दशावतार तथा दूसरे बहु देवताओं के ध्यान, मन्त्रादि प्रकाश पाते हैं। इसी मन्त्र से गायत्री मन्त्र का जन्म हुआ है। *श्रीदेव्यथर्वशीर्ष* में कहा है—

कामो योनिः कमला वज्र-पाणिर्गुहा हसा मातरिश्वाभ्रमिन्द्रः।
पुनर्गुहा सकला मायया च, पुरूच्यैषा विश्वमातादिविद्योम्।।

आदिविद्या विश्वमाता ही 'श्रीविद्या' है। वही 'काम' या कन्दर्प की 'योनि' या जननी है। सुन्दरी के बिना सौन्दर्य से कन्दर्प की स्थिति सम्भव है। योगिराज शिव द्वारा कन्दर्प की स्थूल सत्ता को बाह्य जगत् में भस्म कर देने पर भी वे सुन्दरी उपासक बनकर मनोजरूप में सूक्ष्म सत्ता में अन्तर्जगत् में और अधिक प्रभावशाली हुए। अतः श्रीविद्या उपासकों में एक 'मन्मथ' देव भी हैं। 'परम्परा' को लेकर बहुत-से भेद हैं। तथापि *सौभाग्यभास्कर* में कहा है—

कामराजाख्ये मन्त्रान्ते, श्रीबीजेन समन्विता।
षोडशाक्षरविद्येयं, श्रीविद्येति प्रकीर्त्तिता।।

यही 'श्रीविद्या' षोडशी महात्रिपुरसुन्दरी राजराजेश्वरी ललिता के सम्बन्ध में उनके मन्त्रराज और उनकी पूजार्चना परम्परा के विषय में सबको समझाती हैं। सब विद्याओं की नींव 'श्रीविद्या' और सारी स्त्रियाँ ही 'श्री' हैं। चण्डी (११.६) में स्पष्ट कहा है—

विद्या समस्तास्तव देवि! भेदाः, स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।

शक्ति साधना की परम्परा में मातृ शक्ति को परा शक्ति के रूप में सर्वोच्च स्थान दिया गया है। हर घर में सुख-शान्ति तथा समृद्धि के लिए श्रीदेवी की उपासना एक अपरिहार्य आवश्यकता है। धर्म साधना में 'पत्नी' को प्रतिष्ठा और पराकाष्ठा इसमें इतनी स्वीकृत है कि 'श्रीविद्या' भी कहते हैं। वस्तुतः महर्षि मनु ने बहुत पहले ही 'स्त्री ही श्री' का उद्घोष कर रखा है—

प्रजनार्थं महाभागाः, पूजार्हा गृहदीप्तयः।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु, न विशेषोऽस्ति कश्चन।। — *मनुस्मृति ९.२६*

प्रजोत्पादन या सन्तान की जननी होने के कारण 'गृहदीप्ति' अर्थात् घर की ज्योति के समान स्त्रियाँ पूजा पा रही हैं। वास्तव में 'स्त्री ही घर की श्री' या गृहलक्ष्मी है। महर्षि मनु की उक्ति है—

उत्पादनमपत्यस्य, जातस्य परिपालनम्।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः, प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम्।।
अपत्यं धर्मकार्याणि, शुश्रूषा रतिरुत्तमा।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः, पितॄणामात्मनश्च ह।। — *मनुस्मृति ९.२७-२८*

स्त्रियों का काम है बच्चों को जन्म देना, पालन करना और प्रतिदिन का गृह कार्य देखना। सन्तान-सन्तति, धर्म-कर्म, सेवा, सुरति—ये सब तथा अपना और पितृ लोगों का स्वर्ग—ये सभी 'स्त्री' के ही

अधीन हैं। **'गृहिणी गृहमुच्यते'** —गृहलक्ष्मी के सन्तोष और सहयोग से ही बच्चे मनुष्य बनेंगे, गृहस्वामी की उन्नति होगी तथा परिवार में शान्ति रहेगी। भक्त कवि की भाषा में, जिस घर में सदा पारस्परिक शान्ति, सद्भावना रहती है, वह घर वैकुण्ठ के समान है। **'इहैव तैर्जितः स्वर्गो, येषां साम्ये स्थितं मनः'** (*गीता ५.१६*) सबके मन के मिलन में ही स्वर्ग सुख सम्भव है। मनु ने कहा है—

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता, भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं, कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्।। — *मनुस्मृति ३.६०*

अर्थात् स्वामी पर स्त्री के और स्त्री पर स्वामी के सन्तुष्ट रहने से ही घर में शान्ति और कल्याण सम्भव है। **'कामेश्वरी'** तथा **'कामेश्वर'** का एक बिन्दु में मिलन ही **'श्रीविद्या'** है। **'ललिता'** सदा कामेश्वराङ्कनिलया हैं। अतः सुवासिनी पूजा 'श्रीविद्या उपासना' का एक विशेष अङ्ग है। *अमरकोष* में उल्लेख है—**'चिरण्टि तु सुवासिनी' 'चिरम् अटति पितृगृहात् परगृहम्'** विवाह के बाद सदा के लिए पिता के घर से पति के घर को चले जाने के कारण विवाहिता स्त्रियों को 'चिरण्टि' कहते हैं। विवाह के बाद पति के घर में 'सुष्ठु' (उत्तम) वास करने के कारण वे 'सुवासिनी' कहलाती हैं। विवाहयोग्या प्राप्तयौवना कन्या अपने पिता के गृह में वास करने पर उन्हें भी 'सुवासिनी' कहते हैं, किन्तु भास्कर राय के अनुसार 'सुवासिनी' का अर्थ है—**'सार्वकालं जीवेत पतिका'** अर्थात् जिनके पति सर्वदा जीवित रहते हैं। इस प्रकार सामान्य सभी साध्वी, सधवाएँ, सुवासिनी के रूप में ग्रहण की जाती हैं। मनु के अनुसार—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते, सर्वास्तत्राफला क्रियाः।। — *मनुस्मृति, ३.५६*

जहाँ स्त्रियाँ पूजा जाती हैं, वहाँ देवताओं का निवास होता है। जहाँ स्त्रियों की पूजा नहीं होती, वहाँ क्रियाएँ निष्फल होती हैं। वैदिक परम्परा में स्त्री पूजा की यह बात केवल मौखिक रूप में मिलती है, व्यवहार में स्त्रियों को शूद्र स्तर में ही रखकर उन्हें मात्र भोग्य जीव बना दिया है, परन्तु शाक्त परम्परा में वचन और कर्म दोनों ही दृष्टियों से स्त्रियों को देवता का स्थान देकर योग साधना में उनका सहयोग लिया जाता है।

'आराधिता सैव नृणां भोगस्वर्गापवर्गदा' के अनुसार 'शक्ति' की आराधना से भोग, स्वर्ग और मोक्ष सभी की प्राप्ति सम्भव है। 'श्री' की प्राप्ति होने के कारण यह विद्या 'श्रीविद्या' है। श्रीविद्योपासक आचार्य शङ्कर ने भिक्षा माँगते समय धनहीन वृद्धा से प्राप्त आँवलों के बदले में '*कल्याणवृष्टिस्तव*' पढ़कर सोने के आँवलों की वर्षा की, जिससे वह दीन-हीन वृद्धा धनाढ्या बन गई। अतः 'श्रीविद्या' श्री प्रदात्री विद्या है।

प्रोफेसर एवं वेदविभागाध्यक्ष
राजकीय महाराज आचार्य संस्कृत महाविद्यालय,
गान्धीनगर, जयपुर ३०१२ १५ (राजस्थान)

❑

सच्चिन्मय: शिव: साक्षात् तस्यानन्दमयी शिवा

आशुतोष जोशी

आचार्य शङ्कर की मान्यता है कि शक्ति से संयुक्त होने पर ही शिव विश्व की रचना तथा संरक्षण कार्य में समर्थ होते हैं। यदि शक्ति के संयोग का अभाव हो तो वे स्पन्दन करने में भी समर्थ नहीं है—वे हिल-डुल भी नहीं सकते। शक्ति का तान्त्रिक बीज इकार है। शिव से यदि इकार को निकाल दिया जाए, तो शिव शव बन जाता है, एकदम निर्जीव प्राणी जो अपने अङ्ग भी हिला-डुला नहीं सकता, अन्य धर्मों की तो कथा ही नहीं। *सौन्दर्यलहरी* का आदि पद्य ही इस तथ्य की अभिव्यक्ति करता है—

शिव: शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्त: प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशल: स्पन्दितुमपि।।[१]

तन्त्रशास्त्र की सर्वमान्य कल्पना है, जो तन्त्र ग्रन्थों में बहुश: अभिव्यक्त है। श्री गौडपादाचार्य ने इसे इस पद्य के द्वारा प्रकट किया है—

परोऽपि शक्तिरहित: शक्त: कर्तुं न किञ्चन।
शक्त: स्यात् परमेशानि शक्त्या युक्तो भवेद् यदि।।[२]

यह शक्ति शिव के साथ सहस्रार पद्म में निवास करती है। मूलाधार में भी दोनों का नृत्य होता है जिससे जगत् की सृष्टि होती है। शङ्कर ने षट्चक्रों के रूप तथा भेदन प्रकार का भी विशद वर्णन किया है तथा श्रीचक्र के स्वरूप का भी, यह सिद्धान्त आचार्य द्वारा उनके अन्य ग्रन्थों में भी वर्णित है।[३] *ब्रह्मसूत्र* के भाष्य में आचार्य का कथन है—

न हि तया विना परमेश्वरस्य स्रष्टृत्व सिध्यति।
रहितस्य तस्य प्रवृत्त्यनुपपत्ते:।।[४]

---

१. *सौन्दर्यलहरी*

२. *सुभगोदयस्तुति*, लक्ष्मीधर व्याख्या में उद्धृत, पृ. 29

३. श्लोक 11, शक्तिवाद

४. ब्रह्मसूत्र, द्रष्टव्य 1, 4, 3 का भाष्य

ब्रह्म की विविधरूपिणी शक्ति के कारण ही सृष्टि में विभिन्नता दिखती है—

एकस्यापि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगात् क्षीरादिवत् विचित्रपरिणाम उपपद्यते।[१]

शाक्तमतानुसार शिव ही अपनी शक्ति के द्वारा विश्व रूप हो जाते हैं। दूसरे शब्द में शिव अपनी अपरिच्छिन्न सत्ता को त्याग कर परिच्छिन्न जीव बन जाते हैं और इस प्रकार संसार के सुख दु:खों का उपयोग करते हैं, वस्तुत: शिव को जीव रूप में भोग के लिए जिन उपकरणों की आवश्यकता होती है—शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा अहङ्कार की—इन रूपों के भगवती स्वयं शक्ति हो जाती हैं। इसका विवेचन में शङ्कर की मान्यता है कि—

मनस्त्वं व्योम त्वं मरुदसि मरुत्सारथिरसि
त्वमापस्त्वं भूमिस्त्वयि परिणतायां न हि परम्।
त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुं विश्ववपुषा
चिदानन्दाकारं शिवयुवतिभावेन विभृषे।।[२]

तथ्य तो यह है कि आचार्य शङ्कर की दृष्टि में विश्व का कारणभूत 'ब्रह्म' निस्सन्देह शक्ति से अभिन्न है और शक्ति भी कारणभूत ब्रह्म से भिन्न नहीं है, क्योंकि अन्ततोगत्वा कारण शक्ति तथा कार्य एक ही है।[३] शङ्कर का कथन है—श्वेताश्वर उपनिषद् ईश्वर का कोई लिङ्ग जाति (या जाति) नहीं बतलाती, किन्तु फिर भी वह पुरुष भी हो सकता है, स्त्री भी हो सकता है, स्त्री भी हो सकता है, कुमार तथा कुमारी भी[४]—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।[५]

इसी को शङ्कराचार्य ने अपने *ललितात्रिशतीभाष्य* में भी विशद रीति से प्रतिपादित किया है[६]—

---

१. ब्रह्मसूत्र भाष्य, 2, 2, 24

२. सौन्दर्यलहरी 35

३. कारणभूता शक्ति: शक्तेश्च आत्मभूतं कार्यम्

४. नैव स्त्री न पुमानेष: 5.10

५. श्वेता. 4/3

६. चकार: निर्गुणब्रह्मणोऽपि सगुणब्रह्मविशेषण सद्भावसमुच्चयपर: सर्वत्रापि द्रष्टव्य:। 'सच्चिन्मय: शिव: साक्षात् तस्यानन्दमयी शिवा' इति वचनेन 'स्त्रीरूपां चिन्तयेद् देवीं पुंरुपामथवेश्वरीम्।' अथवा 'निष्फलं ध्यायेत् सच्चिदानन्दविग्रहम्' इति स्मृत्या च, त्वं स्त्री त्वं पुमान् इति श्वेताश्वतरोपनिषद्, (4.3) उपाधिकृतनानारूपसम्भवोक्तेश्च। अत एव 'सेयं देवता ऐक्षत' (छा. 6.3.2) इत्यादौ 'तत् सत्यं च आत्मा अत्यन्ते च' श्रुतौ स्त्रीलिङ्गान्तिदेवतादिपदानां, तत् सत्यमिति नपुंसकान्तस्य, 'स आत्मा' इति पुंल्लिङ्गात्मशब्दस्य एकार्थत्वम्। अविवक्षितोपाधिमत्तया तत्त्वं पदलक्ष्यार्थस्य एकत्वात्। तस्मात् तत्त्वं पदलक्ष्यार्थे सर्वेऽपि गुणा वर्णयितुं सम्भवन्तीति अस्यां त्रिशत्यां हयग्रीवेण बहव: चकारा उपात्ता:।। — *ललितात्रिशतीभाष्य 22*

शङ्कराचार्य के उद्धरण से स्पष्ट है कि वे परब्रह्म को देवता शब्द द्वारा स्त्रीलिङ्ग, तत् सत्यं के द्वारा नपुंसक तथा आत्मा के द्वारा पुंल्लिङ्ग मानने की शास्त्रीय मान्यता से पूर्ण परिचित थे और इसलिए उनकी दृष्टि में परब्रह्म को शक्ति शब्द के द्वारा तन्त्रों में अभिव्यक्त किया जाना कथमपि अनुचित नहीं है। वे कहते हैं आगमवेत्ता परम्परा ब्रह्म की पत्नी, हरि की माया तथा हर की सहचरी भले ही मानें, परन्तु तुम्हारा तुरीया रूप इन सबसे विलक्षण है। तुम परब्रह्म की महिषी हो तथा शुद्ध विद्या के अन्तर्गत तुम महामाया हो। परब्रह्म तथा महामाया एक ही हैं।[१]

'समया' का अर्थ—आचार्य पराशक्ति के लिए समया शब्द का तथा परमशिव के लिए समय, अभिधान का प्रयोग करते हैं। उनका कथन ध्यान देने योग्य है—

तवाधारे मूले सह समयया लास्यपरया,
नवात्मानं मन्ये नवरसमहाताण्डवनटम्।
उभाभ्यामेताभ्याम् उदयविधिमुद्दिश्य दयया
सनाथाभ्यां जज्ञे जनकजननीमज्जगदिदम्।।[२]

मूलाधार में समया अपना कमनीय लास्य दिखलाती हैं, तो भगवान् शङ्कर नवरसों से सम्पन्न महाताण्डव नृत्य का प्रदर्शन करते हैं। इस नृत्य से सृष्टि होती है जिससे माता-पिता वाले जगत् का सद्य: सर्जन होता है। इस श्लोकार्थ को ध्यान में रखने पर समया नाम की व्युत्पत्ति सद्य: स्फुरित होती है। यह समय, शब्द कालवाचक नहीं है, प्रत्युत अपनी व्युत्पत्ति से साम्य को धरण कर्त्री का अर्थ विद्योतित करता है।

शिव के साथ शक्ति का साम्य होता है और शक्ति के साथ शिव का साम्य होता है।[३] फलत: दोनों का समसाम्य है। यह साम्य पञ्चविध है—

(१) एक ही आधार में साम्य, दोनों में मूल आधार में स्थिति होने से यह साम्य विद्यमान है,[४]

(२) उत्पादन कार्य में दोनों के संलग्न होने से यह साम्य है,[५]

(३) दोनों की स्थिति एक प्रकार है, क्योंकि एक ही नृत्य कार्य दोनों द्वारा सम्पन्न होता है,[६]

---

१. *सौन्दर्यलहरी,* पद्य 99
२. *सौन्दर्यलहरी* 39 पद्य
३. शम्भुना साम्यं यातीति
४. अधिष्ठानसाम्य
५. अनुष्ठानसाम्य
६. अवस्थानसाम्य

(४) दोनों जपा कुसुम के समान अरुण वर्ण हैं,[१]

जपाकुसुमसंकाशौ मदघूर्णितलोचनौ।
जगतः पितरौ वन्दे भैरवीभैरवात्मकौ।।

(५) नाम की समता है—एक का नाम है समय, तो दूसरे का नाम है समया।[२]

इस पञ्चविध साम्य की स्थिति शिव-शक्ति में निरन्तर विद्यमान है। सोलह आना रूप में दोनों आठ-आठ आना हैं, न कोई इससे अधिक है और न कम है। इसीलिए वे समय और समया संज्ञाओं से अभिहित किए जाते हैं।

२/६२, जी.ए.डी. फ्लेट्स,
गान्धीनगर, जयपुर
दूरवाणी ०९४१३९९४४७५

❑

१. रूपसाम्य
२. नामसाम्य

गुरु तत्त्व विमर्श : शास्त्र दृष्टि

डॉ. पुष्पा त्रिपाठी

अज्ञानतिमिरान्धस्य, ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्री गुरवे नमः।।
श्री गुरुभ्यो नमः। श्री परमगुरुभ्यो नमः। श्री परमेष्ठिगुरुभ्यो नमः।

सनातन परम्परा में, सृष्टि के अवरोह प्रसङ्ग में तीन की संख्या का बड़ा महत्त्व है। इसी से तीनों लोकों, त्रिदेवों, तीनों गुणों एवं तीनों दोषों का परिणाम सम्भव हो पाता है। एवमेव उपासनाक्रम के अन्तर्गत गुरु, मन्त्र एवं देवता का एक त्रिकोण है। उस कोण में साधक का प्रवेश विना गुरु कृपा के सम्भव नहीं हो पाता। गुरु ही समस्त साधनाक्रम का मुख्य प्रवेश द्वार है। न केवल इतना ही अपितु गुरु ही समस्त साधना की पुञ्जीभूत राशि है। इसीलिए भारतीय सिद्धों ने बार-बार सावधान करते हुए कहा है—

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागौं पांय।
बलिहारी गुरु आपनो, गोविन्द दियो बताय।।

ज्ञान एक चेतना प्रक्रिया है। वह शाश्वत और सत्य है। उसे पाये बिना प्राणिमात्र का समाधान सम्भव नहीं होता। जब तक यह उपलब्ध नहीं मिलती, शान्ति नहीं मिलती—उद्वेग बना रहता है। **'अरब खरब लौं, सम्पदा, उदय अस्त लौं राज।'** यह समस्त सांसारिक प्रपञ्च जीव को शान्ति नहीं दे पाते। इस सृष्टि की आधारभूत संरचना ही द्वैत है। यह एकमेव चिरन्तन आनन्द की उपलब्धि का साधन कैसे बन सकता है। श्रुति कहती है—''द्वितीयात् वै अभयं भवति।'' इसीलिए *श्रीमद्भगवद् गीता* में जहाँ अनेक यज्ञों का वर्णन है, वहीं सभी में ज्ञानयज्ञ की सर्वश्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी है। बिना ज्ञान के मुक्ति सम्भव नहीं है। 'ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः।' यही जीवन के उद्देश्य की चरितार्थता है। उस ज्ञान के प्रतिपादन का स्रोत गुरु होता है। गुरु तत्त्वदर्शी होता है। अपनी साधना उपासना के बल पर सम्पूर्ण द्वैधी भावजनित संशय का उच्छेद कर चुका होता है। वह अत्यन्त कारुणिक भाव से सुपात्र शिष्य का चयन कर उसे भी उस साधना परम्परा में अनुगृहीत कर उस शाश्वत ज्ञान सम्पदा को प्राप्त करने का अधिकारी बना देता है। अतएव *गीता* में श्री भगवान् ने अपने मुखारविन्द से अर्जुन को उपदेश देते हुए कहा है कि—

तत् विद्धि प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं, ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।

भगवती श्रुति कहती है—**'आचार्यवान् पुरुषो वेद।'** परम नि:श्रेयस का मुख्य साधक होने के कारण गुरुपद अत्यन्त महिमाशाली है। उसकी महिमा अनन्त है। इसीलिए अनुभव सिद्ध सन्त कहते हैं—

सतगुरु की महिमा अनत, अनत किया उपकार।
लोचन अनत उघाड़िया, अनत दिखावन हार।।

इस अनन्त को कैसे पाया जाय। सामान्य लौकिक दृष्टि से इसकी परख कर पाना सम्भव नहीं। जहाँ सामान्य लौकिक प्रत्यक्ष साधक को नहीं होता, वहीं पर वेदशास्त्र हमारे मार्गदर्शक के रूप में हमें खड़े मिलते हैं—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो विद्यते।
एवं विदन्ति वेदेन, तस्मात् वेदस्य वेदता।।

लोकहित के परम साधक शास्त्र, अज्ञातार्थ ज्ञापक माने गये हैं। शास्त्रों में गुरुतत्त्व की विशद विचारणा उपलब्ध है। हमारी भारतीय संस्कृति साधना से ओत-प्रोत है। इसमें ऐहिक एवं पारलौकिक दोनों ही साधनाएँ निहित है। हमारे तन्त्रशास्त्र, अदृष्ट शक्तियों से सम्पर्क करने की ऐसी विलक्षण साधनाएँ बताते हैं जिससे हम अलौकिक शक्तियाँ हस्तगत कर सिद्धि प्राप्त कर सकें। यही साधना का लक्ष्य भी है। इसी प्रकार की अलौकिक शक्तियों के धनी भगवान् आद्यशङ्कराचार्य ने अनीश्वरवादी बने हुए भारत को पुन: ईश्वरवादी बनाने का अद्‌भुत चमत्कार किया।

हमारी आचार्य परम्परा में वेद एवं तन्त्रागम दोनों का स्वत: प्रामाण्य स्वीकृत है। इससे स्पष्ट है कि जितनी प्रामाणिकता वेदों या निगमों की है तन्त्रागमशास्त्र की उससे कम नहीं है। *श्रीविद्यार्णवतन्त्र* में गुरुपरम्परा का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। गुरुक्रम का उल्लेख करते हुए श्रीशङ्कराचार्य के पूर्व ७० गुरुओं का स्मरण किया है। गुरु परम्परा का ज्ञान मूलरूप से परमावश्यक है। गुरुक्रमज्ञानरहित जो श्रीविद्या की उपासना करता है उसकी उपासना भस्म में हवन करने के समान निष्फल हो जाती है।

श्रीविद्यासाधना भारतीय आध्यात्मिक जगत् में सर्वश्रेष्ठ गूढ साधना है। इसके द्वारा साधक लौकिक एवं पारलौकिक दोनों सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है। भगवती ललितात्रिपुरसुन्दरी की उपासना करने वाले साधकों को भोग एवं मोक्ष दोनों साथ-साथ प्राप्त हो जाते हैं।

श्रीसुन्दरीसेवनतत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव।

तन्त्रशास्त्रों में गुरु के महात्म्य का विशद वर्णन प्राप्त होता है। श्रीविद्यासाधना की परिसमाप्ति में श्रीगुरुचरण पङ्कज प्राप्ति ही परमसिद्धि है। गुरुतत्त्व का ज्ञान ही साधना का परमलक्ष्य है। गुरुपादुकामन्त्र का महात्म्य बताते हुए *कुलार्णवतन्त्र* में कहा गया है कि गुरुपादुकामन्त्र में सभी विद्याएँ सम्वलित हैं। जैसे मत्स्य

पकड़ने वाले जाल के मूलवलय में सभी सूत्र पिरोये रहते हैं उसी प्रकार गुरुपादुका मन्त्र में सभी मन्त्र एवं समस्त विद्याएँ ओत-प्रोत हैं।

वागुरामूलवलये सूत्राद्याः कवलीकृताः।
एवं कुलागमज्ञानं पादुकायां प्रतिष्ठितम्।। — *कुलार्णवतन्त्र।*

भगवान् शिव भगवती से कह रहे हैं—हे देवि! कोटि-कोटि महायज्ञों से, कोटि मन्त्रजप से, करोड़ों तीर्थों में स्नान करने से, कोटि-कोटि देवार्चन करने से जो फल प्राप्त होता है, वह फल गुरुपादुकामन्त्र के स्मरणमात्र से प्राप्त हो जाता है।

कोटिकोटिमहादानात् कोटिकोटिमहाव्रतात्।
कोटिकोटिमहायज्ञात् पराश्रीपादुकास्मृतिः।। — *कुलार्णवतन्त्र।*

कहा गया है कि गुरु ही सर्वसिद्धि रूपी फलों से युक्त महाशाखा वाले अतिसुन्दर तत्त्वरूपी महावृक्ष का मूल है। जिस प्रकार सन्तुष्ट एवं प्रसन्न होकर गुरुमन्त्र दीक्षा देता है। उसी प्रकार भक्ति से, धन से, प्राण से यत्नपूर्वक गुरु को सन्तुष्ट करना चाहिए। गुरुमन्त्र देकर अपने सम्प्रदाय का निरूपण कर देता है। उसी क्षण शिष्य मुक्त हो जाता है। फिर उसका जन्म-मरण नहीं होता।

तदा मुक्तो भवच्छिष्यो न ततोऽस्ति पुनर्भवः।

श्रीविद्यार्णवतन्त्र में कहा गया है कि दीक्षा लेने के पूर्व गुरु को शिष्य की तथा शिष्य को गुरु की परीक्षा कर लेनी चाहिए। सद्गुरु का लक्षण बताते हुए *तन्त्रराजतन्त्र* में कहा गया है कि—सुन्दर, सुमुख, स्व्च्छ, सुलभ, अनेक मन्त्रों का ज्ञाता, संशयरहित, शिष्य के संशय का छेदन करने वाला, निरपेक्ष—ये सद्गुरु के लक्षण हैं। अनवद्यसौन्दर्य, सौमुख्य, स्मेरपूर्वक (ईषद् हास्यपूर्वक) वार्तालाप करने वाला, निर्मल, कपटरहित चित्तवाला, सुलभ, गर्वरहित, सन्तोषी, बहुतन्त्र का ज्ञाता, तत्त्वबोध में असंशय, सत् शिष्य को रहस्य प्रतिपादित करने वाला, निरपेक्ष, धनप्राप्ति में इच्छारहित, हित की बात करने वाला इन्हीं लक्षणों से युक्त सद्गुरु होता है। इन लक्षणों से रहित गुरु शिष्य को दुःख देने वाला होता है—

सुन्दरः सुमुखः स्वच्छः सुलभो बहुमन्त्रवित्।
असंशयः संशयच्छिन्निरपेक्षो गुरुर्मतः।।
सौन्दर्य्यमनवद्यत्वं रूपे सौमुख्यता पुनः।
स्मेरपूर्वाभिभाषित्वं स्वच्छताजिह्मचित्तता।।
सौलभ्यमप्यगर्वित्वं सन्तोषो बहुतन्त्रता।
असंशयस्तत्त्वबोधे तच्छिष्ये प्रतिपादनात्।।
नैरपेक्ष्यमवित्तेच्छा गुरुत्वं हितवादिना।
एवं विधो गुरुर्ज्ञेयस्त्वितरः शिष्यदुःखदः।। — *श्रीविद्यार्णव,* पृ. १५ म. ४-७

कुलार्णवतन्त्र में भी सद्गुरु के इसी प्रकार के लक्षण बताये गये हैं—

श्रीगुरुः परमेशानि शुद्धवेशो मनोहरः।
सर्वलक्षणसंयुक्तः सर्वावयवशोभितः। — *श्रीविद्यार्णव,* पृ. १५ म. १

सत् शिष्य का भी लक्षण बताते हुए कहा गया है कि – सुन्दर, सुमुख, स्वच्छ, सुलभ, श्रद्धावान्, विचारों में स्थिरता, लोभरहित, स्थिरगति (स्वस्थ), प्रेक्षाकारी (गुरु के संकेत मात्र से ही आज्ञा का पालन करने वाला), जितेन्द्रिय, आस्तिक, गुरु, मन्त्र, देवता में स्थिरबुद्धि वाला शिष्य होना चाहिए, जो शिष्य इसके विपरीत होता है वह गुरु के लिए दुःखदायी होता है।

गुरु के कहने पर सदा उसको नम्रभाव से स्वीकृत करने वाला आदरपूर्वक उसकी आज्ञा को स्वीकार करने वाला, प्रणामपूर्वक उनके पास बैठने वाला, गुरु की आज्ञा से ही जाने वाला, गुरुमुखावलोकी, आदरपूर्वक उनका इच्छित कार्य करने वाला, बहुप्रलाप न करने वाला, गुरु के सामने कभी असत्य न बोलने वाला, काम, क्रोध, लोभ, अभिमान, प्रहसन (हास्य की बात) न करने वाला सत् शिष्य के लक्षण हैं। चाञ्चल्य, परिवेदन (रोते हुए बोलना), गुरु से ऋण लेना या देना, वस्तुओं का क्रय-विक्रय यह सब गुरु के साथ करने का निषेध किया गया है।

चतुर्भिराद्यैः संयुक्तः श्रद्धावान् सुस्थिराशयः।
अलुब्धः स्थिरगात्रश्च प्रेक्षाकारी जितेन्द्रियः।।
आस्तिको दृढ़बुद्धिश्च गुरौ मन्त्रे सदैवते।
एवं विधो भवेच्छिष्यस्त्वितरो दुःखकृद् गुरोः।।
गुरूच्यमाने वचने दद्यादित्थं वचस्तदा।
प्रसीद नाथ देवेति तथेति च कृतादरम्।।
प्रणम्योपविशेत् पार्श्वे तथा गच्छेदनुज्ञया।
मुखावलोकी सेवेत कुर्यादादिष्टमादरात्।।
असत्यं न वदेदग्रे न बहु प्रलपेदपि।
कामं क्रोधं तथा लोभं मानं प्रहसनं स्तुतिम्।।
चापलानि च जिह्मानि कार्याणि परिदेवनम्।
ऋणादानं तथा दानं वस्तूनां क्रयविक्रयम्।। — *श्रीविद्यार्णवतन्त्र,* पृ. १६ म. ८-१३

कुलार्णव तन्त्र में भी सत् शिष्य के इसी प्रकार के लक्षण बताये गये हैं। इस प्रकार के लक्षणों से युक्त शिष्य को गुरु को ग्रहण करना चाहिए—

सच्छिष्यं तं कुलेशानि सर्वलक्षणसंयुतम्।
शमादिसाधनोपेतं गुणशीलसमन्वितम्।। — *श्रीविद्यार्णवतन्त्र,* पृ. १६ म. १-१४

इसके विपरीत आचरण वाले शिष्य को अगर गुरु लोभ से ग्रहण करता है, शिष्य सहित वह गुरु देवता से अभिशप्त होता है। जैसे मन्त्री द्वारा किये गये पाप से राजा तथा पत्नी द्वारा किये गये पाप से पति लिप्त होता है उसी प्रकार शिष्य के द्वारा किये गये पाप से गुरु भी लिप्त होता है। साधक के आचार और अनाचार गुरु के द्वारा शिष्य को ज्ञात करा देना चाहिए, यदि वह ग्रहण नहीं करता है तो शिष्य के पाप से गुरु लिप्त नहीं होता।

मन्त्रिपापं च राजानं पतिं जायाकृतं यथा।
तथा शिष्यकृतं पापं प्रायो गुरुमपि स्पृशेत्।
वर्णाश्रमाणां सर्वेषामाचारः सद्गतिप्रदः।
गुरुस्त्रिवारमाचारं बोधयेत् कुलनायिके।।—*श्रीविद्यार्णवतन्त्र,* पृ. १८ म.२४-२५

सत् शिष्य के कर्त्तव्य को बताते हुए कहा गया है कि जैसी देवता में बुद्धि हो उसी प्रकार मन्त्र में भी, जैसी मन्त्र में हो उसी प्रकार गुरु में भी और जैसी गुरु में हो वैसी आत्मा में भी, यही भक्तिक्रम है। गुरु में कभी मनुष्य बुद्धि नहीं करनी चाहिए, यदि करता है तो देवतापूजन और मन्त्रों से कभी सिद्धि नहीं होती है। गुरु द्वारा प्रदत्त मन्त्र की नियमपूर्वक उपासना करनी चाहिए। इस प्रकार आगमशास्त्रों में गुरुशिष्य लक्षण का विशद विवेचन प्राप्त होता है।

विलक्षण अन्तर्दृष्टि सम्पन्न, परमसिद्ध श्रीविद्योपासक हमारे परमपूज्य ब्रह्मलीन श्रद्धास्पद गुरुजी महाराज श्री स्वामी दत्तात्रेयानन्दनाथ जी स्वभाव से अत्यन्त स्नेहिल एवं करुणापूर्ण थे। निग्रह और अनुग्रह दोनों का उनमें अद्भुत सन्निवेश था।

वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि, को नु विज्ञातुमर्हति।।

मुझ अकिञ्चन पर उनकी बड़ी कृपा थी—मैं ऐसा अनुभव करती हूँ। उनके ही चरणों में बैठकर तन्त्रागम के विषय में कुछ जाना। उनकी कृपालवलेश से ही इस अत्यन्त उपादेय तत्त्व पर कुल लिख पाने की सामर्थ्य प्राप्त हुई। यह शब्दपुष्पाञ्जलि उन्हीं के श्रीचरणों में अर्पित करती हुई अपने को कृतार्थ अनुभव करती हूँ।

त्वदीयं वस्तु गोविन्द! तुभ्यमेव समर्पये।

सहायक आचार्या,
आर्य महिला स्नातकोत्तर कालेज,
वाराणसी।

❑

शाक्तागम की दृष्टि में सृष्टि प्रक्रिया

डॉ. त्रिपुरसुन्दरी

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं,
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।
अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरञ्च्यादिभिरपि,
प्रणन्तु स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति।। – *सौन्दर्यलहरी-१*

अर्थात् शक्ति से युक्त होने पर ही शिव प्रभावशाली है। शक्ति की रञ्जना न होने पर उनमें कोई सञ्चार व गति नहीं। शिव बिना शक्ति के शव है। **ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः** के अनुसार निगमों अर्थात् वेदों द्वारा अर्जित ज्ञान ऋषियों की देन है, किन्तु आगमिक अथवा तान्त्रिक ज्ञान अनुभूत एवं प्रयोगात्मक है, दोनों ही एक-दूसरे के पूरक हैं, आगमों में परमसत्ता का निर्देश पुरुष रूप में हुआ है और उसे शिव कहा गया है। तन्त्र उस परमसत्ता के पुरुष एवं स्त्री दोनों स्वरूपों को स्वीकार करता है। शक्तिरूप की महत्ता पर बल देने वाले तन्त्र शाक्ततन्त्र कहलाते हैं और उन्होंने परमसत्ता को महात्रिपुरसुन्दरी नाम से अभिहित किया है।

शाक्तागम में सम्प्रदाय भेद से दृष्टिकोणों में भेद है, शाक्ताचार्यों का कथन है कि विश्वसृष्टि तथा व्यक्तिगत देह की सृष्टि के मूल में एक ही व्यापार है। योगियों की दृष्टि में श्रीचक्र का आविर्भाव उसी का एक भेदमात्र है, अर्थात् चक्र का उदय, जगत् की सृष्टि आत्मा का देहादियुक्त होकर प्रकाशित होना एक ही बात है। शाक्तमतानुसार समग्र जगत् के मूल में जो अखण्ड सत्ता है वह विश्व का उपादान स्वरूप है तथा निमित्त स्वरूप भी है, वह निर्विकार है, उसमें न ह्रास है और न वृद्धि तथा अनादि, अनन्त, स्वप्रकाश एवं चिदानन्द स्वरूप है। शाक्तागम में स्थिति का नाम है शिवशक्ति-सामरस्य। यह अद्वैत अवस्था की स्थिति है अर्थात् वह शिवरूप में निष्क्रिय है, उदासीन है तथा निरपेक्ष द्रष्टा मात्र है एवं शक्तिरूप में वही भावी विश्व का उपादन पूर्ण स्वातन्त्र्य रूप है। शिव तथा शक्ति अभिन्न होने पर भी शिव तटस्थ है तथा शक्ति संकोच प्रसरणशील है। तान्त्रिक ध्यान प्रणाली तथा अखण्डमहायोग के प्रवर्तक पण्डित गोपीनाथ कविराज ने *तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि* पुस्तक में 'सृष्टि का उन्मेष (शाक्तमत)' के सन्दर्भ में यह विचार व्यक्त किया है कि प्राचीन योगियों की पद्धति से परमतत्त्व-व्याख्यान का मूल ही है जागतिक सत्ता का विश्लेषण। वे लोग कहते हैं— व्यवहार दृष्टि से जिसे हम शिव कहते हैं वह भी एक तरह से शक्ति का ही रूप है क्योंकि वास्तव में जो शिव है, जिसको किसी प्रकार से शक्ति नाम नहीं दिया जा सकता, उसके विषय में कुछ भी कह सकना सम्भव

नहीं है क्योंकि **शक्त्या विना परे शिवे नाम धाम न विद्यते।** शाक्तागम के अनुसार आदि स्पन्दन के मूल में जो निष्फल और नि:स्पन्द सत्ता है, स्पन्दन में वही शिवशक्ति के रूप में भासमान होती है। इसका मूल है बिन्दु सृष्टि की उन्मुख अवस्था का नाम है बिन्दु। वह प्रपञ्चहीन और निराकार है। वर्णमाला में उसका प्रतीक अ: है। यह प्रकाशस्वरूप है, ब्रह्म भी प्रकाश स्वरूप है परन्तु यह ब्रह्म नहीं है। यह सामरस्य स्थिति या काम है, जो कि सृष्टि का प्रवर्तक है, आगमों की परिभाषा में इसका नाम 'रवि' है। 'कामाख्यो रवि:' है क्षोभ-अवस्था में जब इसके साम्य का भङ्ग होता है, तब दो बिन्दु पृथक् हो जाते हैं उनमें से एक अग्नि दूसरा सोम। अग्नि तथा सोम की साम्यावस्था ही काम या रवि है। वैषम्यावस्था में अग्नि और सोम पृथक्-पृथक् रहते हैं। सोम की क्रिया भी पृथक् होती है। अग्नि सक्रिय होकर जब सोम बिन्दु का स्पर्श करती है तब सोम बिन्दु विगलित होकर क्षरित होने लगता है एवं सोम जब सक्रिय होकर अग्नि बिन्दु का स्पर्श करता है तब अग्नि प्रदीप्त होकर सोम का शोष करती है, सोम के क्षरण से सृष्टि होती है तथा क्षरण बन्द होने पर संहार होता है। साम्यरूपी कामबिन्दु की दो कलाएँ हैं एक है अग्निरूपी, जिसका स्वरूप रक्तवर्ण बिन्दु और दूसरा सोम अथवा शुक्लवर्ण बिन्दु है। इस महाबिन्दु से बैन्दवचक्र या मध्यचक्र की रचना होती है। यह सोमप्रधान होने पर भी अग्निषोमात्मक है, वेदों में भी जगत् को 'अग्निषोमात्मक' कहा गया है। इस मध्य चक्र या मध्य त्रिकोण के दो पक्ष हैं—एक आन्तर और दूसरा बाह्य। आन्तर त्रिकोण पश्यन्ती, मध्यमा तथा बैखरी—इन तीन मातृकाओं से रचित है। पर मातृका या परा वाक् से इन तीन मातृकाओं का उद्भव होता है। बाह्य चक्र बैखरीरूप है। पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी शब्द की तीन अवस्थाओं के विषय में कहा गया है, वही प्रणय के 'अ' कार, 'उ' कार और 'म' कार है, अथवा ऋक्, यजु: और साम इस वेदत्रय के रूप में ज्ञानी की दृष्टि से प्रतिभासित होते हैं। त्रिलोक, त्रिदेवता, त्रिकाल प्रभृति अखण्ड परा, वाक् अथवा तुरीय वाक् का ही विविध परिणाममात्र है। बिन्दुगर्भित जो महात्रिकोण समस्त विश्व ब्रह्माण्ड के मूलरूप में शास्त्रों में सर्वत्र व्याख्यात हुआ है, वह इसी चतुर्विध शब्द के सम्बन्ध में प्रकाशित होता है। इस त्रिकोण की तीन रेखाएँ, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी रूप तीन प्रकार से शब्द सृष्टि स्थिति और संहार रूप तीन प्रकार के व्यापार, ज्येष्ठा और रौद्री क्रिया, ब्रह्मा, विष्णु और रूद्ररूप तीन प्रकार के शिवांश अथवा इच्छा ज्ञान और क्रियारूप तीन प्रकार के शिवांश अथवा इच्छा, ज्ञान और क्रियारूप शक्त्यंश की प्रतिनिधियाँ हैं, त्रिकोण या मध्यबिन्दु परावाक् अथवा अम्बिका और शान्ता इन दो शिव शक्त्यंश का साम्यभावापन्न स्वरूप है। यद्यपि बिन्दु में शिव और शक्ति दोनों का ही अंश है एवं त्रिकोण में भी वही है तथापि बिन्दु प्रधानत: शिवरूप में परिणत हो जाता है एवं इस बिन्दु समन्वित त्रिकोण मण्डल से समस्त बाह्य जगत् का अविर्भाव होता है।

इस प्रकार शाक्तागम की धारणाओं के अनुसार सर्ग का मूल तत्त्व अजा आद्याशक्ति है, जो अनन्त और अव्यक्त है। सम्पूर्ण आगम-साहित्य में उसी को व्यक्त करने की चेष्टा की गयी है। उस अज्ञेय एवं अव्यक्त के प्रत्येक विकास में एक ही परमतत्त्व का आगम होते रहने से ही 'आगम' कहलाता है। वह परमतत्त्व ईश्वर

है, शिव है। शक्ति ने विमर्श व स्फूर्ति का रूप धारण किया और शिव ने तेजस रूप में उसमें प्रवेश किया, बिन्दु का प्रादुर्भाव हुआ जब शक्ति ने शिव में प्रवेश किया तब बिन्दु समुन्नत हुआ। इस संयोग से स्त्री तत्त्व 'नाद' की उत्पत्ति हुई। ये दोनों बिन्दु और नाद दूध और जल के समान ऐसे मिले कि एकरूप हो गये और अर्धनारीश्वर नाम से प्रसिद्ध हुए। इसे 'संयुक्त बिन्दु' कहते हैं। यह तत्त्व स्त्रीत्व और पुरुषत्व के बीच अत्यन्त आसक्ति का द्योतक है। बिन्दु दो हैं। श्वेत पुंस्त्व है, रक्त स्त्रीत्व है। दोनों से 'कला' की उत्पत्ति होती है। संयुक्त बिन्दु (काम) और श्वेत रक्त बिन्दु (कला) दोनों मिलकर काम-कला में परिणत हुए। इस तरह से काम और कला बिन्दुओं के योग से काम-कला का विकास होता है। बौद्ध तन्त्रों में इसका वर्णन इस रूप में द्रष्टव्य है—

एकाराकृति यद्दिव्यं मध्ये षट्कारभूषितम्।
आलयः सर्वसौख्यानां बोधरत्नकरण्डकम्।।

यहाँ कामकला पद से त्रिपुरीसुन्दरी के बीजाक्षर का बोध कराया गया है। इस बीजाक्षर के माध्यम से ही उसकी उपासना की जाती है। इस काम-कला से समस्त तत्त्वों का विकास भी होता है।

अस्तु शाक्तागम की सृष्टि विधायिनी एक महिमान्वित देवी है, और उसको 'परा', 'ललिता', 'भट्टारिका', 'त्रिपुरसुन्दरी' और 'षोडशी' भी कहते हैं। इस तरह से केवल शिव अथवा केवल शक्ति जगत् का निर्माण नहीं कर सकती किन्तु कामेश्वरी-कामेश्वरी, शिव-शक्ति दोनों मिलकर ही सारे जगत् की सृष्टि करते हैं। शिव-शक्ति का यह समागम ही उस पराशक्ति को प्रबुद्ध करता है, जिससे कि बीज से अङ्कुर के समान शिव तत्त्व से लेकर क्षिति (पृथ्वी) तत्त्व पर्यन्त समस्त जगत् की सृष्टि होती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. *सौन्दर्य लहरी।*

२. *तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि*, महामहोपाध्याय डॉ. श्री गोपीनाथ कविराज।

३. *तन्त्राचार्य गोपीनाथ कविराज और योग-तन्त्र-साधना*, रमेशचन्द्र अवस्थी।

४. *हिन्दुत्व,* रामदास गौड़, ज्ञानमण्डल, वाराणसी।

५. *आगम और तन्त्रशास्त्र।*

अंशकालिक प्रवक्ता,
संस्कृत-विभाग,
आर्य महिला पी.जी. कॉलेज,
वाराणसी।

❑

आगमपरम्परा में गीतादर्शन का वैशिष्ट्य एवं साम्प्रतिकोपादेयता

विद्यावाचस्पति डॉ. रामजीवन मिश्र

गीता भारतीय संस्कृति के सनातन आगमिक परम्परा के उत्कर्ष की द्योतिका है। गीतादर्शन को समझाने के लिए किसी भूमिका की आवश्यकता नहीं है। हम सभी जानते हैं कि *महाभारत* जैसे विशालकाय ग्रन्थ का ही सारतम अंश *'गीता'* है, जैसी स्थिति इसके उत्पत्तिकाल में थी वैसी ही भीषण स्थिति आज के आधुनिक भारत राष्ट्र की है। सर्वत्र आत्मीय जनों में संघर्ष देखने को मिल रहा है, महाभारत की भाँति ही आज भाई के सामने भाई उसका खून पीने को तैयार है, भिन्नता मात्र इतनी-सी है, कि उस समय का युद्ध राष्ट्रधर्म के लिए था और आज के युद्ध स्वार्थ सिद्धि के लिए हो रहे हैं।

अब हम यदि सोचें कि आगमस्वरूप इस गीतादर्शन में ऐसा क्या है जो किसी भी राष्ट्र को श्रेष्ठ बना सकता है, तो हमें अपने मन में इस बात को धारण करना होगा कि गीतादर्शन कोई ग्रन्थ नहीं है, यह तो सिद्धान्त प्रतिपादक है, गीता के सभी श्लोक आधुनिक परिप्रेक्ष्य में पूर्णतया घटित होते हैं। आज हम देखते हैं कि सारा संसार अकर्मण्यता सागर में डूबा हुआ है, मोह ने उसकी स्मृति को नष्ट कर दिया है, वह पाश्चात्य की चकाचौंध कर देने वाली दुनिया में भटक कर कदम-कदम पर ठोकर-पे-ठोकर खाते जा रहा है, भारतीय जनता यह भूल चुकी है कि राष्ट्र के प्रति, समाज के प्रति उसके क्या कर्त्तव्य है? इन्हीं अन्धेरे चक्रव्यूहों से श्रेष्ठता की ओर ले जाने वाला साधन का नाम गीतादर्शन है। महाभारत का प्रलयङ्कारी सङ्ग्राम हो रहा था, भाई के सामने भाई उसका खून पीने के लिए तैयार था, ऐसी दशा में अर्जुन का विषादी होना स्वाभाविक था, इसी प्रकार सांसारिक परिस्थितियों में कर्म के प्रति संशय रखने वाले विश्व का प्रतिनिधित्व अर्जुन में दृष्टिगोचर होता है, और इसी मोह और अकर्मण्यता के निवारण के लिए गीतादर्शन का उद्भव भगवान् श्रीकृष्ण से किया जाता है, और अन्त में स्वयं अर्जुन कहता है—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धः। — *गीता, १८.७३*

अतः गीतादर्शन की दिशा सुस्पष्ट है, यह कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है जिसकी आज सारे विश्व को आवश्यकता है। इसी कारण तिलक जी कहते हैं—यदि भारत को पुनः श्रीभारत बनना है, जो अपने गुरुत्व के सिंहासन पर आरूढ होना है तो उसे गीतादर्शन के सिद्धान्तों को अपने आचरण में लाना होगा। कारावास में *गीतारहस्य* की रचना के सम्बन्ध में वह कहते हैं कि गीता की ही शक्ति ने हम क्रान्तिकारियों के मन में राष्ट्रभक्ति को जन्म दिया है, हमारे मन में गीतादर्शन की यही धारणा विद्यमान है—

हतो वा प्राप्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम। — *गीता २.३७*

आज विश्व में संघटन देखने में कम ही दृष्टिगत होता है। भारत राष्ट्र में पञ्जाब प्रान्त अपने सिक्ख समुदाय को लेकर अलग राज्य, तथा दक्षिण भारत के लोग भाषागतविषमताओं के कारण पृथक् राज्य की माँग कर रहे हैं, वहीं मुस्लिम हवाओं ने उत्तरी भारत को झकझोर कर रख दिया है, यह हिन्दू है, यह मुस्लिम, इस भावना ने लोगों को विघटित कर दिया है। अत: उन्हें गीतादर्शन का यह ज्ञान देना होगा कि—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। — *गीता १८.६६*

जब यह भावना आधुनिक जनता के मन में जागृत होगी तब समाज स्वयमेव श्रेष्ठता को प्राप्त करेगा। प्रसिद्ध भी है कि—

भारतस्य प्रतिष्ठे द्वे संस्कृतं संस्कृतिस्तथा।।

और हमारी संस्कृति गीतादर्शन के ही इर्द-गिर्द घूमती है। लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक का तो यहाँ तक कहना है—हमारे उपनिषदों का भी यही सार है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यै शास्त्रविस्तरै:। — *गीतामाहात्म्य ४*

(क) गीतादर्शन द्वारा राष्ट्र में व्याप्त ज्वलन्त समस्याएँ एवं उनका निवारण तथा श्रेष्ठता के पथ पर अग्रसारण

अकर्मण्यता का निवारण—भारतीय जनता प्राय: करे या न करे की असमञ्जसता में अपना समय नष्ट कर पिछड़ जाती है। यह देखा गया है कि हम अपने जीवन का १/६वां भाग हाँ या ना में व्यर्थ कर देते हैं। गीता हमें इस निम्नता से उच्चता की ओर ले जाती है। इसलिए श्री शङ्कराचार्य जी कहते हैं—जब एक तरफ खाई और दूसरी तरफ कुआँ हो तो गीता का स्मरण करो। यह तुम्हारे अन्दर निर्णय का विवेक उत्पन्न कर देगी। आज के युग में सफलता की इतनी आशा करने लगते हैं कि असफलता के भय से हम उस कार्य को ही नहीं कर पाते, इसी से अकर्मण्यता और नपुंसकता का जन्म होता है, उदाहरण के लिए कुछ दिनों पूर्व राजस्थान के ही एक जिले में फँसे, बाढ़ से ग्रस्त व्यक्तियों की सहायता असफलता के भय से उनके भाग्य पर छोड़ दी गयी और परिणाम हुई विफलता, एक तरफ बाढ़ में फँसे व्यक्ति और दूसरी तरफ सारा प्रशासन, फिर भी असफलता? क्यों? क्योंकि आज के आधुनिक युग की यह धारणा है कि—

भाग्यं फलति सर्वत्र, न विद्या न च पौरुषम्।

इस कारण हम हाथ आए अवसर भी खो बैठते हैं, गीता हमें इसी द्वैतवाद से ऊपर उठाकर यह बतलाती है कि—

कर्मण्येवाऽधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। — *गीता, २.४७*

अपनी सामर्थ्यता के अनुसार कर्म करो, फल की चिन्ता मत करो। इसीसे तुम श्री को प्राप्त करोगे। अत: गीता के इस सिद्धान्त पर ध्यान दो—

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिता:। — *गीता, २.११*

जो गया, वो तो गया उसके लिए अपने भविष्य को मत बर्बाद करो। गीतादर्शन के ज्ञान का ही अभाव है कि १९९३ में हुए हमलों का १३ वर्ष बाद स्पष्टीकरण किया जा रहा है? क्या हम ऐसे राष्ट्र से सफलता की आशा रखते हैं? बिल्कुल नहीं हमें इस सिद्धान्त को अपनाना होगा कि 'काल करै से आज कर' इसी से हम श्रेष्ठता को प्राप्त कर सकते हैं।

आधुनिक भारत में व्याप्त मोह और भ्रष्टाचार का गीतादर्शन द्वारा निवारण—आज अर्थ पिपासा ने मानव को भ्रष्टित कर दिया है, वह नेत्र होते हुए भी नेत्रहीनों की तरह व्यवहार करने लगा है। आज व्यापारी घी में डालडा मिला रहा है तो कहीं राजनीतिज्ञ घोटालें ही घोटालें करते जा रहे हैं, अयोग्य नौकरी पा रहे हैं और योग्य आत्म हत्याएँ कर रहे हैं, यह मेरा है, यह पराया, इसी भावना से आज का राष्ट्र खोखला होता जा रहा है, इस धारणा को गीतादर्शन की यह पङ्क्ति नष्ट कर सकती है—**'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो'** (— *गीता, १५.१५)* अर्थात् सभी प्राणियों में समभाव से विद्यमान हूँ, फिर मेरा पराया किस लिए, श्रेष्ठता के लिए मनुस्मृतियाँ इसी बात पर बल देती हैं कि— 'वसुधैव कुटुम्बकम्' अर्थात् मानव यह समझ जायेगा कि सम्पूर्ण वसुधा ही मेरा परिवार है तो यह व्याप्त कुकृत्य स्वयमेव नष्ट हो जायेंगे। इसलिये माधवप्रसाद जी कहते हैं कि इस कलयुग को सतयुग में गीता ही परिवर्तित कर सकती है। जब श्रीकृष्ण ने देखा कि अर्जुन का मोह नष्ट नहीं हो रहा तो वह कहते हैं कि हे! अर्जुन तू जिनके लिए शोक कर रहा है वे तो कभी थे ही नहीं क्योंकि—

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।। — *गीता, २.१३*

इस वचन की आध्यात्मिकता चाहे कुछ भी हो, परन्तु अपना प्रिय कोई चल बसे तो भी वह दूसरे देह में जीवित है यह ज्ञान होने पर शोक की तीव्रता कुछ कम हो जाती है। इसी सन्दर्भ में गीता से हमें मार्गदर्शन मिलता है कि—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मन:।
काम: क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्। — *गीता, १६.२१*

इतिहास में भी यदि हम दृष्टिपात करें तो यह ज्ञात होता है कि अशोक जैसे लोभी, क्रोधी और साम्राज्यवादी रक्तपिपासु शासक ने भी इसी आत्मदर्शन से श्रेष्ठता को प्राप्त किया। स्वार्थ भी लोभ की श्रेणी में आता है। यही लोभ अन्याय को बढ़ावा देता है, भारत जैसे लोकतान्त्रिक राष्ट्र में अपराधी बरी हो रहे हैं,

गीता ही हमें इस दलबन्दी से ऊपर उठाती है क्योंकि वकील सोचते हैं कि यदि मेरे भतीजे ने अपराध किया भी है तो भी वह निर्दोष है। गीता हमें यही शिक्षा देती है—'निजधर्म से श्रेष्ठ राजधर्म है, अपराधी कोई भी हो उसे दण्ड दो, वह उसके कर्मों का फल है।' स्मृतियाँ भी कहती हैं कि—

पिताचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति।।

पिता, माता, आचार्य, मित्र, स्त्री, पुत्र कोई भी अपने धर्म के अनुसार कार्य न करे तो उसे दण्ड अवश्य दें। जिस दिन हमारी न्याय व्यवस्था में इस तत्त्व को लागू किया जाएगा कोई सन्देह नहीं हम श्रेष्ठता के शिखर पर होंगे। राष्ट्र की रक्षा के लिए ही कृष्ण ने अपने मामा का वध किया, महाभारत भी एक राष्ट्रयुद्ध था जिसमें राष्ट्र की रक्षा के लिए अर्जुन ने अपने गुरु, मित्र और भाई बन्धुओं को दण्डित किया। शेक्सपीयर के *हैमलेट* नाटक ग्रन्थ में भी एक ऐसे राजकुमार का वर्णन किया गया है जिसके चाचा ने उसके पिता का वध कर उसके पिता से राजगद्दी भी छीन ली और उसकी माता को अपनी पत्नी बना डाला। ऐसी अव्यवस्था में वह क्या करें क्या न इस शोक से व्याकुल होकर वह पागल हो गया। इस नाटक के निष्कर्ष में स्वयं शेक्सपीयर लिखता है—यदि हैमलेट को गीतादर्शन का ज्ञान होता तो वह कुशलतापूर्वक इस समस्या का निदान प्राप्त कर लेता। गीतादर्शन के इसी महत्त्व को द्योतित करते हुए राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी जी कहते हैं कि यदि मेरे पास गीता रूपी अस्त्र न होता तो मैं इस राष्ट्र की सेवा नहीं कर पाता। गीतादर्शन से मैं शोक में भी मुस्कराने लगता हूँ, जिस समय मुझे शङ्काएँ घेरती है, निराशाएँ मेरे सम्मुख होती है इस स्थिति में जब मैं गीता की ओर ध्यान देता हूँ तो मैं अपने आपको श्रेष्ठता के सर्वोच्च शिखर पर प्राप्त करता हूँ एवं भारतवासियों को भी इसका अनुसरण करने की प्रेरणा देता हूँ। यहाँ उल्लेखनीय यह है कि गीतादर्शन के हितकारी भावों के कारण इस सत्यमूर्ति के सामने सारा पाश्चात्य जगत् नतमस्तक हो गया।

(ख) आतङ्कवाद, क्रोध तथा मानसिक वासनाओं का निवारण एवं परोपकार की भावना का विकास

गीता के शब्दों में राष्ट्र में संघर्ष का कोई और कारण नहीं अपितु यह मानव शरीर ही एक कुरुक्षेत्र है। गीतादर्शन के अनुसार—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।। — *गीता, १३.१*

इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार पाँचों विकार और सत्त्व, रज, तम तीनों गुणों का विकास इसी क्षेत्र का विस्तार है, प्रकृति से उत्पन्न इन गुणों से विवश होकर मनुष्य गलत कार्य कर बैठता है। इन्हीं इन्द्रियों को गीता संयमित करती है। गीता हमें यह ज्ञान देती है कि क्रोध विनाश की जड़ है, इससे बचो—

क्रोधात् भवति सम्मोहः सम्मोहाद् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।। — *गीता, २.६३*

मैथिलीशरण गुप्त जी भी इसी बात का समर्थन करते हुए कहते हैं कि पाण्डवों के पास कुछ न था, बन्दरों के पास कुछ न था, अगर था तो केवल धैर्य, जिसने उन्हें श्रेष्ठ बनाया। अत: अपने मन में व्याप्त क्रोध को धैर्य से जीतो। महाभारत में विदुर कहते हैं—**'अक्रोधेन जयेत् क्रोधम्।'** सन्त तिरूवल्लूवर जी साड़ियों की तानाबुनी करते थे और एक दिन में प्राय: दो साड़ियों के चार रुपये प्राप्त होते थे, जिससे उनका जीवन चलता था। उनकी कर्तव्यनिष्ठा एवं यश को धूमिल करने की मंशा से एक अहंकारी युवा सेठ ने उनके पास आकर साड़ी का मूल्य पूछा तो सन्त ने दो रुपये बताये। फिर उस युवक ने साड़ी के दो टुकड़े कर दिये और मूल्य पूछा तो संत ने कहा कि 'बेटे यह एक टुकड़ा एक रुपये का है।' इस प्रकार वह युवक साड़ी को फाड़ता चला गया और उसने उस साड़ी के ६४ टुकड़े कर दिये और बोला यह टुकड़े मेरे किसी काम के नहीं, मुझे नहीं चाहिए, नहीं चाहिए तो कोई बात नहीं, तिरूवल्लूवर जी बोले, युवक ने देखा कि इनके चेहरे पर शिकन की एक रेखा भी नहीं आई, कितना धैर्य है इनमें, उनकी इस विलक्षणता से प्रभावित हो वह सेठ उनके चरणों में गिर पड़ा, इस विलक्षणता का कारण पूछने पर सन्त ने उससे कहा कि भक्तिभाव में विश्वासकर गीता दर्शन के इस तत्त्व का सदैव स्मरण रखो—

यं हि न व्यथयन्ते ते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते। — *गीता २.१५*

वास्तव में यह युवक पाश्चात्य जगत का प्रतीक है जिसे अन्त में गीतादर्शन के आगे नतमस्तक होना ही पड़ा इसलिए तिरूवल्लूवर जी कहते हैं कि—यदि भारत की आधुनिक पीढ़ी गीतादर्शन को अपने व्यवहार में लाए तो वह दिन दूर नहीं जब सारा विश्व हमें ऊँची दृष्टि से देखेगा। परन्तु आज का युवक अपने आदर्श को भूल चुका है, अपने हित के लिए किसी का भी रक्तपिपासु हो जाता है, यही कारण है कि आज प्रकृति भी उसका साथ नहीं दे रही, क्रोध तथा मोह के कारण सभी आन्तरिक युद्ध में उलझे हुए है, समाज में बलात्कार तथा अपहरण जैसे घिनौने कर्मों ने अपना ताण्डव मचा रखा है, हमारी वासनाएँ को गर्त में लेकर जा रही है, युवक-युवतियाँ पाश्चात्य संस्कृति और पद्धतियों का अनुसरण कर रहे हैं, मैकाले द्वारा चालू शिक्षण पद्धति ने आज के मानव का इतना स्वार्थी बना दिया है कि हम दूसरे के मुँह का अन्न भी छीनने में लगे हुए हैं, इसी समस्या के समाधान में गीतादर्शन कहती हैं कि—

इन्द्रियस्येद्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।। — *गीता, ३.३४*

भाव यह है कि आज के युग में इन्द्रिय को संयम में रखने वाला ही श्रेष्ठ है। आज हम देखते हैं कि हार्ट अटैक जैसी जानलेवा बीमारियाँ उत्पन्न हो रही है, जिनका एकमात्र कारण मन की चञ्चलता है, इस चञ्चलता को संयमित करने के लिए श्रीकृष्ण जी कहते हैं—हे अर्जुन! योग को अपनाओ, मन की चञ्चलता दूर करो, क्योंकि—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।। — *गीता, २.५०*

आज के इस राष्ट्र की एक अन्य समस्या है—'हिंसा का बढ़ता प्रचार।' लालच की पूर्ति न होने पर क्रोध और हिंसा जन्म लेती है, इस हिंसक भावनाओं को मिटाने के लिए गीतादर्शन की यही पङ्क्ति पर्याप्त है—'**अयं आत्मा ब्रह्म।**' सभी जीवों में एक ही आत्मा है। अतः जिस कार्य की दूसरे से तुम अपेक्षा नहीं रखते, प्रतिकूल मानते हो, उसे मत करो—

न तत्परस्य सन्दध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः।

यह उपनिषदों का सार सदैव स्मरण रखो—'**यथा अहं तथा एते, यथा एते तथा अहं**' जैसे वह सभी वैसा ही मैं भी हूँ, अहिंसा को त्यागो। समाज में व्याप्त वर्ण विषमताओं का समाधान–वर्ण के नाम पर आज साम्प्रदायिक दंगे हो रहे हैं, अनेकता में एकता वाले इस राष्ट्र की अखण्डता भङ्ग होती जा रही है।

इसे देश का दुभाग्य मानें कि उत्थान पतन का नियम, गीतादर्शन की दूरदर्शितापूर्ण शिक्षा के बावजूद वर्ण के आधार पर श्रेष्ठ और अधम की गणना की जाती है, गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं' सभी वर्णों का निर्धारण मैंने स्वयं किया है, सभी वर्ण श्रेष्ठ हैं। पर आज वर्ण के नाम पर आरक्षण क्यों, सभी प्राणी समान है, आज देश की अवनति का कारण यही आरक्षण है, इसने लोगों में अकर्मण्यता भर दी है। ६०% वाला व्यक्ति चयनित होकर राष्ट्र को भ्रष्ट किये जा रहा है और ८०% वाला मेधावी छात्र आत्महत्या किये जा रहा है? क्या हम ऐसे राष्ट्र से श्रेष्ठता की उम्मीद करते हैं? समाज में व्याप्त मानसिक दुर्वृत्तियाँ और उसका निवारण धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष में से अर्थ की लिप्सा ने लोगों की मानसिकता को नष्ट कर कई प्रकार की दुर्वृत्तियों को जन्म दिया है, हम मन से ही अपने आपको दुर्बल समझते हैं, *गीता* के दशम अध्याय में अर्जुन ने भगवान् से प्रश्न किया कि इन्द्रियादि तो काम–काञ्चन में मोहित है, और उनके आकर्षण से मनुष्य रूप रसादि विषय के पीछे दौड़ रहा है, अतः इससे बचने का क्या उपाय है? भगवान् ने उत्तर दिया—'**यद् यद् विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।**'

जो कुछ भी श्रेष्ठ तथा सुन्दर है, वह सब मेरे तेज का अंश है। मेरा स्मरण करों और मन की दुर्बलता को छोड़ों, परन्तु आज का राष्ट्र गीता से विमुख हो गया है, हमारे छात्रों को आज पाश्चात्य शिक्षा दी जाती है जिसका आधार ही हिंसा और कपट पर आधारित है, हमारी कथनी और करनी में वैमनस्यता है। गीतादर्शन के अनुसार—'मन और वाणी को एक करना ही मुख्य साधना है।' सामने के प्यासे को तो हम जल तक नहीं

दे सकते, किन्तु सभाएँ करने में हरिप्रेम में सबको विभोर कर समस्त अभावों को मिटा देशोद्धार करने चलते हैं। मन और वाणी की विपरीत गति का उदाहरण देखिए—*दुर्गासप्तशती* में कहा गया है–

विद्या: समस्तास्तव देवि भेदा: स्त्रिय: समस्ता सकला जगत्सु।

(हे देवि, जितनी विद्याएँ हैं, जगत् में जितनी नारी मूर्त्तियाँ हैं, वे सब तुम्हारी ही मूर्त्ति है?)

हम सभी *दुर्गासप्तशती* का पाठ नित्य किया करते हैं, परन्तु हममें से कितने ऐसे व्यक्ति हैं जो स्त्रियों को देवी की प्रतिमा मानते हैं? छोटी-सी बात को लेकर हम पत्नी पर प्रहार तक करने में नहीं सहमते? दहेज प्रथा के कारण मिट्टी तेल उड़ेलकर उसे आज के समाज में जलाया जा रहा है, कहाँ गई गीता की एकात्मकता? हम कहा करते हैं मनुष्य मात्र नारायण की मूर्ति है, किन्तु व्यवहार में हम क्या करते हैं। किसी मेहतर या नीच जाति के व्यक्ति को देखकर हम पशु से भी अधिक बुरा बर्ताव उसके साथ करने लगते हैं, गीतादर्शन में इसी तुच्छ भावना को मिटाने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

क्लैब्यं मा स्म गम: पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोतिष्ठ परन्तप।। — *गीता २.३*

परन्तु आज गीता का अध्ययन ही कौन करता है जो गीता के तत्त्व को समझ सके। पाश्चात्यता ने लोगों के मन से शिष्टता को निकाल दिया है, गुरु हत्या जैसे कुकृत्य देखे जा रहे हैं, परोपकार की बातें समय व्यर्थ करने जैसी लगती है, और जो कोई परोपकार करता भी है तो स्वार्थ के कारण ही, उसके मन में यह धारणा व्याप्त है कि जब मुझ पर विपत्ति आएगी वह भी मेरी सहायता करे। एक ही घर में रहने वाले व्यक्तियों में नि:स्वार्थ भावना देखने को नहीं मिलती। पुत्र रोता तो पिता की मृत्यु पर है परन्तु उसकी दृष्टि पैतृक संपत्ति पर रहती है। महाराष्ट्र के सन्त तुकाराम जी कहते हैं कि बहू दिखाने के लिए तो रोती है सास के हित के लिए, परन्तु हृदय का भाव कुछ और ही होता है। हम कहते तो हैं कि '**सर्वे भवन्तु सुखिन:**' '**मा विद्विषा वहै**' परन्तु हम अपनी ही इच्छाएँ दूसरों पर थोप उन्हें कष्ट देते हैं। इसके निवारण के लिए भगवान् श्रीकृष्ण जी गीतादर्शन में कहते हैं कि—'सन्तोषं परमं सुखम्।' जब मानव मन से सन्तुष्ट हो जाता है और अपने मन में लोकहित की भावना को उत्पन्न करता है तो स्वयं ही उसके भीतर की सभी वासनाओं का शुद्धीकरण हो जाता है। आज हम प्रकृति के साथ खिलवाड़ कर रहे हैं जिससे प्रकृति जहर उगल रही है। इसके निवारण हेतु सभी जीवों में अपनी सत्ता बताते हुए गीतादर्शन में श्रीकृष्ण कहते हैं—**नक्षत्राणामहं शशी।**

अत: सदैव धर्म को अपनाओं, राष्ट्र धर्म का पालन करो और जब-जब धर्म की ग्लानि दिखे मेरे सिद्धान्त का स्मरण कर श्रेष्ठता को प्राप्त करो। स्वयं गीतादर्शन में कहा गया है कि—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्। — *गीता ४.७*

आज का यह भारत राष्ट्र न तो पूर्णरूपेण निन्द्रा में है और न ही जागा हुआ है, तन्द्रा की स्थिति में वह अंगड़ाई ले रहा है, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हम देखते हैं कि यदि एक बजे कार्यक्रम का समय है तो वह डेढ़ बजे से पहले प्रारम्भ नहीं होता है, आज हम माता को 'माम' और पिता को 'डेड' कहकर पुकारने लगे हैं, अपने जन्मदिवस के अवसर पर अथवा शुभ अवसर पर हम दीपों को बुझा कर कितना अपशकुन करते हैं, यह हम नहीं जानते। आज हमारे आदर्श या तो फिल्मी अभिनेता होते हैं या फिर खिलाड़ी। क्या हम ऐसे राष्ट्र से श्रेष्ठता की उम्मीद करते हैं जो स्वयं दूसरी संस्कृति के पीछे पड़ा है? हमें श्रेष्ठता के लिए व्यास के इस वचन को अपनाना होगा कि—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितिधीर्मुनिरुच्यते। — *गीता २.५६*

अर्थात् दुःख में जिसका मन व्याकुल न हो, तथा सुख में जिसकी स्पृहा न हो, राग भय, क्रोध, स्वार्थ जिसको व्याप्त न करे उसे ही मुनि कहा जाता है। वस्तुतः मन तथा बुद्धि के इसी स्थैर्य की आवश्यकता वर्तमान युग की माँग है। आज हम देखते हैं कि सभी लोग धर्मपरिवर्तन कर अपने राष्ट्र का ह्रास कर रहे हैं। ईसाई पादरी कहते हैं कि ईसाई धर्म को ग्रहण किए बिना तुम्हारे लिए नरक ही है। वही बाईबल कहता है कि सर्वत्र कटु धर्म जो व्याप्त है उससे (बहिश्त) स्वर्ग की ओर ले जाने के मार्ग में मैं ही हूँ, पर लोगों को यह जानना होगा कि सभी धर्म, उपनिषदों तथा धर्म का सार गीतादर्शन ही है। वस्तुतः अष्टावक्रगीता, बोधगीता, अनुगीता आदि की रचना 'गीता' के बाद हुई। परन्तु सभी समस्याओं का निदान एवं सभी धर्मों का सार *श्रीमद्भगवद्गीता* को ही मानते हुए कहा गया है कि—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्। — *गीता माहात्म्य ६*

अतः निष्कर्ष रूप से यह सिद्ध है कि गीतादर्शन ही सभी की श्रेष्ठता का मूल है।

(ग) आदर्शभाव तथा आत्मविश्वास का विकास कर श्रेष्ठता के उपाय

गीता के अनुसार आदर्शजीवन क्या है? आदर्शमानव कैसा हो सकता है, जो घर बार छोड़कर अरण्य में शरण लेता है अथवा वह जो इस संसार में विषम स्थितियों के ऊपर अपना प्रभुत्व जमाकर जीवन को आगे बढ़ाता है, कई लोग इसका खण्डन करते हैं कि यह सब ढकोसला है, परन्तु वास्तविकता तो यह है कि गीता कर्तव्यशास्त्र और व्यवहारशास्त्र है। गीतादर्शन हमें यह सिखलाती है कि **स्वकर्मणामर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।** कर्म की क्रिया में इतना ही स्मरण रखो कि यह मेरा कर्त्तव्य है। इससे अकर्मण्यता तुम्हें छू भी नहीं सकती और तुम स्वयं का ही नहीं अपितु राष्ट्र का कल्याण कर सकते हो, तिलक जी के शब्दों में गीतादर्शन

एक ऐसी ज्वाला है जिसके सम्पर्क में आते ही सभी समस्याओं का दहन हो जाता है। आज की पीढ़ी में आत्मविश्वास की कमी भी उनमें निम्नता तथा हीनता को जन्म दे रही है, किसी भी विकट परिस्थिति को देखकर हम इतने भयभीत हो जाते हैं कि हमारा दिल और दिमाग कार्य करना बन्द कर देता है, अत: गीतादर्शन ही हमें यह ज्ञान देती है कि—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्री विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।। — *गीता १८.७८*

स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा था कि शून्य पर भाषण देने को आदेश से सर्वप्रथम में अचम्भित हो गया, परन्तु गीता की कर्तव्यपरायणता को स्मरण कर मैंने जो वक्तव्य दिया उससे मेरा और मेरे राष्ट्र का मस्तक ऊँचा हो गया। अङ्गद के आत्मविश्वास ने ही सारी लङ्का के पसीने छुड़ा दिये, हमारे पूर्व राष्ट्रपति अब्दुल कलाम जी भी इसी आत्मविश्वास की सजीव मूर्ति हैं। पाँच वर्ष से कम उम्र के बालक बुधिया की ६५ किलोमीटर की दौड़ इसी आत्मविश्वास का प्रतीक है, गीता भी यही शिक्षा हमें देती है—'मन के हारे हार है मन के जीते जीत' गीता के शब्दों में—

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।। — *गीता ६.६*

जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में गीतादर्शन ने ही स्वतन्त्रता सेनानियों के मन में आत्मविश्वास पैदा कर राष्ट्र पर प्राण न्योछावर करने की प्रेरणा दी। गीता का ज्ञान प्रत्येक भारतीय के लिए आवश्यक है, बिना इसके भारतीय पङ्गु हैं। आत्मविश्वास तथा गीतादर्शन की भक्ति ने ही मीरा के प्याले में विष को अमृत में बदल डाला। इसलिए महामना पं. मदनमोहन मालवीय जी कहते हैं कि—जो गीता का भक्त है उसे निराश होने की कोई जरूरत नहीं। सन्त आसाराम जी के शब्दों में—हर व्यक्ति जो निराश है, उसे गीतादर्शन की आवश्यकता है। भारत के न्यायालय में गीता पर हाथ रखकर न्याय की आशा अभी भी की जाती है, लोगों में विश्वास है कि गीता उनके साथ अन्याय नहीं होने देगी।

(घ) पाश्चात्य संस्कृति का कुप्रभाव तथा उसका गीतादर्शन द्वारा निवारण

आज हमारी पीढ़ियाँ पाश्चात्य संस्कृति के पीछे दौड़ रही है, माता-पिता बच्चों को कान्वेन्ट विद्यालयों में दाखिला दिलवाना चाहते हैं, आज की युवा पीढ़ी खाती अपने देश का है और राष्ट्र सेवा के समय विदेशी भूत उन पर सवार हो जाता है, यही ठीक है कि आधुनिक समय में गति की नितान्त आवश्यकता है परन्तु इसके लिए अपनी संस्कृति को भूलना कहो तक श्रेयस्कर है। गीता हमें यह बतलाती है—'राष्ट्र ही सर्वस्व है' श्रीराम जी स्वयं इसका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—'**जननी जन्मभूमिश्च**

स्वर्गादपि गरीयसि।' लेकिन आज के युवा आध्यात्म को गँवारों की निशानी मान आधुनिक फैशन के कारण राष्ट्र को गर्त में डुबोते जा रहे हैं, खड़े-खड़े खाने से अपनत्व नाश की समस्या जन्म ले रही है, ४० वर्ष की उम्र होते ही पैरों की पिण्डलियों में पीड़ा चालू हो जाती है, अत: इस काले धुएँ से बचने के लिए हमें पाठ्यक्रम में गीता शिक्षा को लागू करना होगा क्योंकि छात्र ही किसी राष्ट्र के भविष्य होते हैं। योग से ही हम अपनी संस्कृति की रक्षा कर सकते हैं, गीता हमें उपदेश करती है कि—'**तस्माद्योगी भवार्जुन**' इसी योग का प्रचार कर रामदेव जी ने विश्व पटल पर श्रेष्ठता की पताका फहराई है, पाश्चात्य संस्कृति का ही प्रभाव है कि आज समाज में आरक्षण और अन्धविश्वास ने जन्म ले लिया है, बिल्ली के रास्ता काटते ही, छींक आते ही हम कार्य को टाल देते हैं, गीता हमें इन सबसे ऊपर उठाकर यह ज्ञान देती है कि शङ्काओं को छोड़ नि:श्रेयस भाव से कर्म करो, तू श्रेष्ठता को नहीं श्रेष्ठता तुझे प्राप्त करेगी।

पाश्चात्य विद्वानों के अन्धविश्वासों का खण्डन

पाश्चात्य विद्वान् मानते हैं कि भारतीय संस्कृति मानव को उबार नहीं पाती। चाणक्य का कहना है कि शत्रु को नष्ट कर दें और स्मृति कहती है **'शत्रुं मित्रवदाचरेत्'** तो इस विडम्बना में मानव क्या करे शत्रु को मार दे अथवा मित्र बना ले आखिर क्या करे? तो उसका समाधान यह है कि उस समय ऐसा व्यवहार करें जैसा श्रीराम ने समुद्र के साथ किया, हमारी जान लेने के लिए कोई शस्त्र लेकर आ जाए तो उसे नष्ट करना ही श्रेयस्कर है इसलिए राजा बलि कहते हैं—'**न श्रेय: सततं तेजो न नित्यं श्रेयसी क्षमा।**'

दूसरी शङ्का यह की जाती है कि फल की इच्छा के बिना कर्म कैसा? यदि ऐसा हो तो दुष्ट की दुष्टता बढ़ती ही जायेगी। इसके समाधान में हमारे गीतादि उपनिषद् कहते हैं कि —'शास्त्रोचित कर्म करो।' उस कर्म को अपने ऊपर घटाओ यदि तुम उसे सहन कर सकते हो तभी वह कर्म करो।

तीसरी समस्या है कि 'महाजनो येन गत: स पन्था:' को कैसे अपनाएँ क्योंकि शैतान का इतिहास लिखने वाले एक ग्रन्थकार ने लिखा है कि—शैतान और देवी के युद्ध में देवताओं ने ही कपट का सहारा लिया, श्रीरामचन्द्र जी ने अग्नि द्वारा शुद्ध होने पर भी सीता का वरण नहीं किया, पाण्डवों की तो एक ही स्त्री थी, इतिहास में कोई अहिल्या का सतीत्व नष्ट करने वाला है तो कोई अपने पिता की आज्ञा से माता का शिरच्छेद करने वाला है, पर शैतान का इतिहास लिखने वाला यह नहीं जानता कि उस समय की स्थिति क्या थी, क्या कपटी के के साथ कपट व्यवहार नहीं करना चाहिए? बिल्कुल करना चाहिए। महाकवि भारवि जी कहते हैं कि '**व्रजन्ति ते मूढधिय: पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिन:।**' आज हम योग को ढकोसला मानने लगे हैं। वास्तव में इसी धारणा के कारण आज हम भारतीय भी अपनी शारीरिक क्षमता खाते जा रहे हैं, कई बालक प्रयत्न करने पर भी परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो पा रहे हैं, वे मन को एकाग्र नहीं कर पा रहे, इसी मानसिक शक्ति को केन्द्रित करने का साधन योग है, जिसका गीतादर्शन में वर्णन किया गया है, वह योग की

ही शक्ति है जिस कारण विवेकानन्द सरस्वती जी एक से दो बार में ही कठिन ग्रन्थों को याद कर लेते थे, अत: योग हमारी चञ्चलता को दूर कर हमें श्रेष्ठ बनाती है। एक बार एक विदेशी ने स्वामी जी से पूछा कि, ''आपके पास क्या है जो आप अपने आपको इतना गौरवान्वित महसूस करते हो।'' स्वामी जी का उत्तर था—''हमारे पास गीतारूपी अस्त्र है जिससे हम विश्व की किसी भी शक्ति को चुनौती दे सकते हैं।'' आज के युग में इस अद्वितीय ग्रन्थ का सभी भाषाओं में अनुवाद हो चुका है जो इसकी श्रेष्ठता का प्रमाण है। गीता के कारण ही आज भी हम आध्यात्मिकता के क्षेत्र में श्रेष्ठ हैं। गीतादर्शन की इस विलक्षणता की प्रशंसा करते हुए मैक्समूलर कहते हैं कि गीता दार्शनिक के लिए दर्शन, ज्योतिर्विद के लिए ज्योतिष, योगी के लिए योगशास्त्र है।

तिलक के अनुसार सांसारिक माया मोह से मुक्ति गीता ही दिलवा सकती है, उनके शब्दों में—विश्व की सारी पुस्तकें मिलकर भी गीतादर्शन से स्पर्धा नहीं कर सकती है। अत: '**गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यै: शास्त्रविस्तरै:।**' अर्थात् गीता दर्शन में ही सभी शास्त्रों का सार निहित है। इसके द्वारा ही हम अपना, अपने समाज का एवं राष्ट्र का कल्याण कर सकते हैं।

श्री कृष्णार्पणमस्तु।

एसोसिएट प्रोफेसर (ज्योतिष विभाग)
संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान सङ्काय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-२२१००५

श्रीकृष्णप्रोक्ता गीताचतुष्टयी में सार्वकालिक नैतिक चिन्तन

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा 'शिवानन्दनाथ'

कुरुक्षेत्र की पवित्र धर्ममयी धरा पर समस्त वैदिक चिन्तन का साररूपी अमृत गीता के रूप में श्रीकृष्णजी के द्वारा प्रकट किया गया है। इसमें प्रतिपादित मत श्रीकृष्ण स्वयं श्री कृष्ण के ही नहीं है अपितु अनादि वैदिक परम्परा के हैं अत: वह इन्हें प्रमाणरूप में सादर स्वीकृत करती है। गीता महात्म्य (१) का यह पद्य यही उद्घोषणा कर रहा है—

सर्वोपनिषदो गाव:, दोग्धा गोपालनन्दन:।
पार्थो वत्स: सुधीर्भोक्ता, दुग्धं गीतामृतं महत्।।

वेदों के ज्ञानकाण्डीय साररूप में उपनिषदों की गणना की जाती है, क्योंकि दर्शन के श्रुतिप्रस्थान के रूप में हमारी चिन्तन परम्परा उन्हें आद्य स्थान प्रदान करती है। गीता स्मृति प्रस्थान में होने पर भी सम्पूर्ण उपनिषदों का सार सरलतम एवं संक्षिप्त रूप में प्रकट कर जन कल्याण का महनीय कार्य सम्पन्न करती है। अत: महाभारतकार इसे 'सर्वशास्त्रमयी' कहते हैं। श्रीकृष्ण के नैतिक चिन्तन एवं दर्शन को अधिगत करने में महाभारतोक्त *गीता* (भीष्मपर्व २५-४२) परम प्रमाण मानी जाती है तथापि श्रीकृष्ण के वचनों से अनेक ग्रन्थ सुशोभित हो रहे हैं। गीता में १८ अध्याय एवं ७०० श्लोक हैं जिनमें मानव जीवन के उच्चतम नैतिक चिन्तन एवं व्यावहारिक जीवनदर्शन को सुस्पष्ट करते हुए चरम लक्ष्य मुक्ति के सहज मार्ग को शास्त्रीय विधि से विनिर्दिष्ट किया गया है। यह ग्रन्थ आकर्षक संवादशैली या प्रश्नोत्तर रूप में ग्रथित है। यह सत्य है कि गीताशास्त्र सम्पूर्ण विश्व का नीतिशास्त्र है। यह कर्त्तव्य की शिक्षा, समत्व का पाठ, ज्ञान की भिक्षा तथा शरणागति का उपदेश देकर सम्पूर्ण मानव जगत् का अपूर्व कल्याण करता है—

कर्तव्यदीक्षां च समत्वशिक्षां, ज्ञानस्य च भिक्षां शरणागतिं च।
ददाति गीता करुणार्द्रभूता, कृष्णेन गीता जगतो हिताय।। — *साधकसंजीवनी-१*

वैदिक दर्शन की अनुपम व्याख्या के रूप में गीता वेदव्यास जैसे ऋषि से संकलित, आचार्य रामानुज, वल्लभ, मध्व, निम्बार्क, अभिनवगुप्त, नीलकण्ठ, श्रीधरस्वामी, मधुसूदन सरस्वती, विवेकानन्द, अरविन्दघोष, लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी, विनोबा भावे, प्रभुपाद, रामसुखदास जैसे आध्यात्मिक सन्त, राजनीति के कर्णधार एवं आचार्य प्रवरों के द्वारा व्याख्यायित है। यह पुराणग्रन्थों में प्रशंसित एवं वेदान्त परम्परा में प्रमाणरूप में स्वीकृत तथा विश्व के सहस्रों ज्ञानिजनों से विवेचित है। नीतिशास्त्रकार के रूप में भी

श्रीकृष्ण का योगदान बहुप्रशंसित है। महाभारत के युद्ध में सफल नीतिकार की भूमि श्रीकृष्ण के द्वारा ही निभायी गई है—

भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गाम्भीरनीलोत्पला,
शल्यग्राहवती कृपेण वहनी कर्णेन बेलाकुला।
अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा दुर्योधनावर्तिनी,
सोत्तीर्णा खलु पाण्डवै: रणनदी कैवर्तक: केशव:।। — *मङ्गलाचरण–६*

यह सत्य है कि महाभारतरूपी रणनदी को पार करने में पाण्डवों के लिए श्रीकृष्ण की भूमिका नौका सञ्चालक चतुर कैवर्तक (मल्लाह) के रूप में रही है। उनके समुचित मार्ग निर्देशन में इस महायुद्ध में विजयश्री की प्राप्ति पाण्डव कर सके हैं। अत: श्रीकृष्ण नीतिशास्त्र, राजनीतिशास्त्र एवं कूटनीति के जगद्गुरु सिद्ध होते हैं। यही नहीं उन्होंने नीतिशास्त्र के प्रौढ मर्मज्ञ होने के साथ अपनी दार्शनिक प्रतिभा का परिचय भी गीताओं के रूप में प्रदर्शित किया है। उनके द्वारा किये गये दार्शनिक विवेचन के आधार पर उनके प्रति की गई यह घोषणा भी सार्थक है—**कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्।।**

भगवद्गीता सार्वकालिक एवं सर्वभौमिक नैतिक तत्त्वों का विमर्श प्रस्तुत करती है। श्रीकृष्ण के नैतिक दृष्टिकोण एवं दार्शनिक परिशीलन हेतु प्रधानत: इस गीता का ही आश्रय सुधीजन लेते हैं। गीता में अन्तर्निहित चिन्तन महाभारत तथा उपनिषद् आदि में ज्यों–का–त्यों प्राप्त तो होता है पर विकीर्ण रूप में। गीताकार ने अपनी युक्तियों की स्थापना दृढ़तापूर्वक शास्त्रीयरीति से एकत्र की है। यही इस ग्रन्थ का वैलक्षण्य है।

अर्जुनोपाख्यान एवं गीता

महर्षि वाल्मीकि प्रणीत *योगवासिष्ठ* (महारामायण) में राम एवं वसिष्ठ के संवाद में 'अर्जुनोपाख्यान' भविष्य में होने वाली घटना के रूप में वर्णित है। त्रिकालदर्शी वसिष्ठ, अर्जुन एवं श्रीकृष्ण के संवाद को ७ अध्यायों तथा २५४ श्लोकों में (निर्वाण प्रकरण पूर्वार्द्ध ५२–५८ अध्याय) श्री राम को अनासक्ति हेतु उपदेश करते हैं। इस अर्जुनोपाख्यान में गीता के २४ श्लोक यथावत् उपस्थित हैं। इस उपाख्यान में आत्मा का अकर्तृत्व इस प्रकार साधित किया है कि प्रकृति या शरीर को कर्त्ता होने से आत्मा में अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व के कारण अनेकत्व का परिहार होकर ब्रह्मैक्य सिद्ध होता है—

अकर्तृत्वादभोक्तृत्वमभोक्तृत्वात् समैकता।
समैकत्वादनन्तत्वं ततो ब्रह्मत्वमाततम्।।
नानातामलमुत्सृज्य परमात्मैकतां गत:।
कुर्वन् कार्यमकार्यञ्च नैव कर्त्ता त्वमर्जुन।। – *योगवसिष्ठ ५२.३१–३२*

इसी प्रकार निष्काम कर्मयोग के बारे में श्रीकृष्ण युक्ति देते हैं—

न कुर्याद् भोगसंत्यागं न कुर्याद् भोगभावनम्।
स्थातव्यं सुसमेनैव यथाप्राप्तानुवर्तिना।। — *योगवसिष्ठ ५५.१*

अर्थात् न भोगों का त्याग अभीष्ट है, न भोगों की भावना, इस दोनों की समता या सामञ्जस्य ही कर्मयोग है। इस उपाख्यान का सार है—यह जगत् जीव का स्वप्न है। इसमें असंसक्ति से ही जगत् स्वप्न का नाश होता है। इसलिये वसिष्ठ ने अर्जुनाख्यान की अवतारणा की है। अहंकार और उसका त्याग, उपास्य एवं ज्ञेय रूप तथा अभेद की व्यस्थिति इसमें वर्णित है। सुख एवं दु:खादि सम्बन्ध, उनका हेतु तथा हानि की परिचर्चा यहाँ की गई है। देह के नाश पर आत्मा का अनाश, मूढ एवं तत्त्वज्ञ के लिए समान है। मूढ जीव भ्रान्ति के कारण जन्मादि को प्राप्त करता है परन्तु ज्ञानी मुक्त होता है जो यहाँ वर्णित है। जीव मुक्ति की प्रतिष्ठा अर्जुन को उपदिष्ट है। चित् का सत्त्वरूप, जगद्रूप एवं मनश्चित्र यहाँ विस्तार से कहे गये हैं। मन के निर्वासन की दृष्टि, सुखद्वय तथा आत्मशेष की दृष्टि भी यहाँ निरूपित है। तत्त्वबोध से अविद्या एवं वासना का क्षय सम्भव होता है। अर्जुन को यह प्राप्त हुआ है। यही उसकी कृतार्थता है। यह सात अध्यायों का सार संक्षेप टीका में कहा गया है।

इस उपाख्यान से प्रतीत होता है कि गीता इन्हीं पूर्व कथित नैतिक जिज्ञासाओं का प्रमाणपूर्वक समाधान प्रस्तुत करती है।

गीता का प्रमुख नैतिक सिद्धान्त : कर्मयोग

गीता के नैतिक चिन्तन का मूलाधार कर्मयोग का सिद्धान्त है। स्वयं श्रीकृष्ण कह रहे हैं—

संन्यास: कर्मयोगश्च निश्रेयस्करावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते।। — *गीता ५.२*

संन्यास और कर्मयोग दोनों नि:श्रेयस्कर है परन्तु इन दोनों में कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग ही अधिक श्रेष्ठ है। प्रसिद्ध दार्शनिक प्रो. सङ्गमलाल पाण्डेय गीता की कथावस्तु को शाश्वत नैतिक कथा के रूप में स्वीकारते हैं—'ऐतिहासिक अर्जुन नैतिक मन है और ऐतिहासिक कृष्ण विवेक है। ऐतिहासिक कुरुक्षेत्र हमारा व्यक्तित्व है। इस प्रकार ऐतिहासिक घटना नैतिक घटना की मूर्ति है।' (*नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ. २०२*)

अर्जुन के लिए लड़ना कर्म है, नहीं लड़ना अकर्म है। अत: अकर्म से कर्म अच्छा है, परन्तु लड़ने में क्या हिंसा नहीं है? क्या हिंसा पाप नहीं है? इन नैतिक प्रश्नों की समीक्षा एवं समाधान गीता प्रस्तुत करती है। इन प्रश्नों की मीमांसा के फलस्वरूप गीता में तत्त्व ज्ञान (ज्ञानयोग) और कर्मशास्त्र (कर्मयोग) तथा

भक्तिशास्त्र (भक्तियोग) पर गहन विचार किया गया है। ये सब मानसिक घटनायें हैं, जिनका बाहरी समय प्रवाह से सम्बन्ध नहीं है। ये नीतिशास्त्र के अनुसार मूलभूत प्रश्न तथा उनका अपना विचारक्रम है।

मानव चेतना के अन्तर्गत तीन शक्तियों का समावेश है—ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति एवं इच्छाशक्ति। इन्हीं के आधार पर प्रधानत: विविध नैतिक जिज्ञासा या समस्याओं का उद्‌भव होता है जिनका गीता समुचित रूप में समाधान मार्ग प्रस्तुत करती है।

१. समुचित ज्ञान की समस्या

मनुष्य अल्पज्ञ जीव होने के कारण स्वभावत: अच्छाई एवं बुराई का किञ्चित् ज्ञान तो रखता है परन्तु स्पष्ट एवं परिपूर्ण ज्ञान नहीं रखता है। सामान्य मनुष्य की तो बात ही क्या, विशेषज्ञ को भी पूर्णज्ञान या समुचित ज्ञान प्राप्त नहीं होता है। अत: इस विषय के अधिकृत गुरुजनों से ही सच्चा एवं पूरा ज्ञान जाना जा सकता है। अत: गुरु से ज्ञान लेने की परम्परा भारत में आदिकाल से प्रचलित है। अच्छाई या बुराई को समुचित रूप में जानकर ही मनुष्य तदनुरूप कार्य कर सकता है अन्यथा उसकी स्थिति डॉवाडोल रहती है। अर्जुन की यही समस्या इन शब्दों अपने गुरु श्रीकृष्ण के सम्मुख प्रस्तुत होती है–

न चैतद्विद्म: कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा न जयेयु:।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिता: प्रमुखे धार्तराष्ट्रा:।। — *गीता २.६*
कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव: पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेता:।
यच्छ्रेय: स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे, शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।। —*गीता २.७*

हे कृष्ण मैं नहीं जानता हूँ कि लड़ना मेरे लिए श्रेयस्कर है अथवा नहीं लड़ना। मैं तो यह भी नहीं जानता हूँ कि मेरी विजय श्रेयस्कर है या मेरे शत्रुओं की ...। अत: जो श्रेयस्कर मार्ग है वह कृष्ण जी मुझे बताइये। तब श्रीकृष्ण ने गुरु की तरह इस समस्या का विशद विवेचन किया कि कर्म क्या है? अकर्म क्या है?तथा विकर्म क्या है। इसको तो विद्वान् भी पूर्णत: नहीं जानते है। वस्तुत: कर्म को जानकर ही उससे मुक्त हो सकतेहैं—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिता:।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्य बोद्धव्यं च विकर्मण:।।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गति:।। — *गीता २.१६–१७*

अत: मानव मात्र के लिए समुचित ज्ञान ही प्रथम समस्या है जो विना तत्त्वज्ञान के समाधान नहीं हो सकती है। वैदिक दर्शन इस विषय में हमारी सहायता करता है। नित्य एवं अनित्य का विवेचक रूपी विवेक ही इसका उपाय दिखता है।

२. उचित कर्त्तव्य पालन की समस्या

यह मानव के कर्म या व्यवहार, आचरण से जुड़ी है। मनुष्य कर्म के उचित एवं अनुचित का ज्ञान करने पर भी उचित कर्त्तव्य के पालन में प्रवृत्त नहीं होता है तथा न अनुचित कर्म के आचरण से निवृत्त होता है। जैसा कि महाभारत के इस पद्य में स्पष्टत: कहा है कि—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति:, जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्ति:।

यद्यपि कर्म के औचित्य एवं अनौचित्य से अभिज्ञ होकर मनुष्य को सत्कर्म का पालन एवं असत्कर्म का परित्याग करना चाहिये परन्तु मनुष्य: प्राय: इस विषय में मोहित हो जाता है। इस कर्तव्यपालन की समस्या से ग्रस्त अर्जुन पूछ ही बैठते हैं—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरित पुरुष:।
अन्निछन्नपि वार्ष्णेय बलादिवनियोजित:।। – — *गीता ३.३६*

हे कृष्ण! किस प्रधानकारण से प्रयुक्त हुआ यह पुरुष न चाहते हुए भी राजा के प्रयुक्त सेवक की तरह बलपूर्वक लगाया हुआ पाप कर्म का आचरण करता है। अत: कर्त्तव्य पालन की यह दूसरी नैतिक समस्या मनुष्यों के सामने सामान्यत: उपस्थित होती है जिसका कारण एवं निदान प्रत्येक मनुष्य को जानना चाहिये।

३. उचित ज्ञान एवं कर्तव्यपालन के लक्ष्य चरमपुरुषार्थ की समस्या

कोई व्यक्ति एक बार अच्छाई एवं बुराई को समुचित रूप में जान लेता है तो फिर उचित कर्त्तव्य का पालन भी करता है तब उसकी जिज्ञासा होती है इसका लक्ष्य, या फल क्या है? क्या वह मुझे प्राप्त हो गया है? यदि उसे लक्ष्य नहीं मिला तो सब कुछ बेकार है। वस्तुत: जब तक नि:श्रेयस की प्राप्ति नहीं होती है तब तक पूर्णता नहीं है। नैतिक ज्ञान एवं नैतिक आचरण से नि:श्रेयस अनिवार्यत: जुड़ा हुआ है। इस साधन से यह उत्तम गति नहीं मिलती तब क्या होगा? नि:श्रेयस का अर्थ सन्तोष श्रद्धा, शान्ति आदि पूर्ण गुणों की प्राप्ति है। अन्यथा मनुष्य फिर भटकन में पड़ जाता है अत: अर्जुन इस प्रश्न को भी उठाते हैं—

अयति: श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानस:।
अप्राप्य योगसंसिद्धि: कां गतिं कृष्ण गच्छति।।
क्वच्चिनोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मण: पथि।। — *गीता ६.३७–३८*

हे कृष्ण यदि श्रद्धा से युक्त व्यक्ति का योग से मन चलायमान हो गया तो उसे योगसिद्धि तो मिलेगी नहीं, तो कौन-सी गति प्राप्त होगी? कहीं वह ज्ञान और कर्म दोनों से भ्रष्ट होकर बादलों की तरह छिन्न-भिन्न तो नहीं हो जायेगा? इस मार्ग पर पूर्ण विश्वास तो जबहो सकता है कि उसको यह पता लगे कि उसके उपदेशक पूर्णज्ञान सम्पन्न है। बिना पूर्ण ईश्वर के दर्शन इस समस्या का समाधान नहीं है।

मानव के नैतिक आचरण से जुड़ी हुई तीनों समस्याओं का समाधान गीता इस प्रकार प्रस्तुत करती है। समुचित ज्ञान की समस्या अपने तत्त्वज्ञान एवं दर्शन को समझने पर हल हो जाती है तथा उससे कर्मयोग का सिद्धान्त गीता निष्कर्ष रूप में उपस्थित कराती है। कर्मयोग की सैद्धान्तिक स्थापना हेतु श्रीकृष्ण जी ने गीता के दूसरे अध्याय में अनेक प्रबल एवं अकाट्य युक्तियों का परिस्फुटन किया है। सारत: समझ सकते हैं कि बिना कर्म के स्वातन्त्र्य लाभ नहीं है। कर्म संन्यास से संन्यास की भी सिद्धि नहीं होती है (गीता ३.४)। क्षणमात्र भी मनुष्य अकर्मी नहीं रह सकता है (३.५)। शरीरयात्राभी बिना कर्म सम्भव नहीं है (३.८)। कर्म सृष्टि का नियम है जो इसका उल्लङ्घन करताहै वह वृथा जीता है और लोकसंग्रह (सामाजिक व्यवस्था) के लिए भी कर्म आवश्यक है (३.२०)। परमात्मा भी कर्म इसलिए करता है उसको देखकर ही अन्य जन उनका अनुकरण करते हैं। सभी मनुष्य अकर्मी हो तो यह समाज ही नष्ट न हो जाये। यद्यपि कर्म अनेक है तब मनुष्य कौन-से कर्म करे। संसार में भगवान् ने कार्य एवं अकार्य की व्यवस्था कार्यविभाजन के आधार पर चातुर्वर्ण्य एवं चातुराश्रम के रूप में शास्त्रों में प्रतिपादित की है। मनुष्य सामान्य एवं विशेष धर्मों का आचरण करे। गीता स्वधर्मपालन को श्रेष्ठ मानती है तथा परधर्म को अपनाने का निषेध करती है—

स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावह:।

अत: श्रुति, स्मृति एवं सदाचार अनुकुल स्वधर्म ही समुचित कर्म है। इससे पूर्ण विरक्ति है। अकर्म तथा विकर्म है निषिद्ध कर्मों का अनुष्ठान। मनुष्य इनको समुचित रूप में समझकर स्वकर्म कर पालन करे।

कर्तव्यपालन की समस्या के निदान हेतु हम देखते हैं कि हमारी कामनाएँ, इच्छाएँ या वासनाएँ हमें अज्ञान से आवृत्त करती है। अत: अज्ञान के कारण हम सत्कर्म के प्रति प्रेरित नहीं होते हैं तथा असत्कर्म से निवृत्ति नहीं हो पाती है। अत: इस बाधा का प्रधान कारण कामना का नाश करना चाहिये—

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्। — *गीता ३.४३*

यह कामनारूपी शत्रु का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण किया गया है। भोगविषयों के सङ्ग से पुरुष आसक्त होता है तब क्रमश: काम, क्रोध, मूढता, स्मृति नाश एवं स्वयं की बुद्धि नाश रूपी पतन के मार्ग में पतित होता है। इसे गीता इस प्रकार स्पष्ट करती है—

ध्यायतो विषयान् पुंस सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गाज्जायते काम: कामात्क्रोधोऽभिजायते।।

क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।। — *गीता २.६२–६३*

कर्त्तव्य पालन में बाधक काम या इच्छा ही है। अतः उनकी निवृत्ति आत्म संयम द्वारा हो सकती है।

अब यह जिज्ञासा उठती है कर्म का पालन विषयों से सम्पर्क बढ़ाता है अतः यह प्रवृत्ति की दृढ़ता प्रस्तुत करता है जबकि आत्मसंयम विषयों से सम्पर्क त्यागने की आवश्यकता प्रतिपादित करता है तो निश्चय ही यह निवृत्ति साधक है। अतः इस नैतिक उलझन का समाधान एकमात्र निष्काम कर्मयोग है। गीता कर्मवाद एवं त्यागवाद का समन्वय इस प्रमुख सिद्धान्त के माध्यम से करती है। अतः कर्त्तव्य या कर्म के पालन में फलेच्छा का त्याग करने पर आसक्ति का नाश हो जायेगा तथा कर्म के करने से अकर्मवाद की अकर्मण्यता भी दूर हो जायेगी अतः ठीक ही कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।। — *गीता २.४७*
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।। — *गीता २.४८*

अर्थात् कर्तव्यपालन की दृष्टि से किया गया कर्म ही कर्म है। इसीमें लोकसंग्रह निहित है। अन्य इच्छाओं से किया गया कर्म सच्चा कर्म नहीं है। समुचित कर्त्तव्यों का आचरण ही वास्तविक कर्म है। इसी प्रकार वास्तविक कर्मसंन्यास यज्ञ, दान एवं तप आदि पावन कर्मों का नहीं है। ये त्याज्य कर्म नहीं है। इस प्रकार गीता अपने अद्वितीय विवेचन से संन्यासवाद एवं कर्मवाद का समन्वय कर्मवाद में फलेच्छा त्याग के रूप में संन्यासवाद लाती है तथा संन्यासवाद में समुचित कर्तव्यपालन का कर्मवाद प्रविष्ट कराके निष्काम कर्ममार्ग को सयुक्तिक सुस्थापित करती है। जो सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक तथ्य के रूप में नीतिशास्त्र में स्वीकार्य है।

उचित ज्ञान एवं कर्तव्यपालन के पश्चात् उठने वाली चरम लक्ष्य मूलक समस्याओं का समाधान मोक्ष प्राप्ति ही है। मानवीय बुद्धि प्रयत्न कर बार-बार नियन्त्रित करने पर या तो घोर कर्मवाद को या घोर संन्यास को उन्मुख हो जाती है। परमलक्ष्य निःश्रेयस की प्राप्ति से भटक जाते हैं अतः ईश्वर पर श्रद्धा होने से उसके शरणागति पर जाने से सरल निष्काम मार्ग को भी प्रस्तुत करती है क्योंकि वास्तविक नैष्कर्म्य तभी है जब ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण हो, नहीं तो विषयों की कामना पुनः पुनः प्रकट होकर भ्रमित कराने का प्रयास नहीं छोड़ेंगी। यद्यपि सांसारिक इच्छायें मिटतीहै, आत्मसंयम से। जब आत्मशुद्धि होती है तब श्रद्धा का उदय होता है उससे ज्ञान में पूर्णता एवं परमानन्द की प्राप्ति तथा निःश्रेयस भी सहज अधिगत हो जाता है। इस समस्या का समाधान भक्ति से ही हो सकता है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामैवष्यसि सत्यं ते प्रति जाने प्रियोऽसि मे।। — *गीता १८.६५ एवं ९.३४*

अपना मन मेरे ऊपर केन्द्रित करो, मेरी भक्ति करो, मेरा यज्ञ करो, मुझे नमस्कार करो, इस प्रकार तुम मुझे ही प्राप्त करोगे। तुम मेरे प्रिय हो इस कारण मैं तुमको बतला रहा हूँ। इस प्रकार गीता में इच्छा को भगवद्भक्ति की ओर मोड़ा गया है क्योंकि इच्छाओं का अन्त ही नहीं है वह प्रभु समर्पण से ही विलीन हो सकती है।

गीता में जीवमात्र की समता का सिद्धान्त

गीता ही जीवनमात्र में समता की उद्घोषणा करती है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिता: समदर्शिन:।। — *गीता ६*

अर्थात् विद्याविनय से सम्पन्न ब्राह्मण में, गौ में, हाथी में, कुत्ते और चाण्डाल में भी पण्डितजन समभाव से देखने वाले हैं। सब एक ही निर्विकार ब्रह्म के अंश है। अत: सभी में समान दृष्टि ज्ञानी रखते हैं। अद्वैत की दृष्टि से सभी प्राणियों में भगवद्रूप की सत्ता एवं एकता सिद्ध हो जाती है तथा भेदभाव की सम्भावना भी नहीं रहती है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्रसमदर्शन:।।
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च न मे प्रणश्यति। — *गीता ६.२९–३०*

सर्वप्राणियों में आत्मा को तथा आत्मा के सभी प्राणियों को देखने वाले योग आत्मा सर्वत्र समदर्शन करते हैं। मुझे सर्वत्र तथा मुझमें सब कुछ देखने वाले समदर्शी योगी के लिए मैं कभी अदृश्य नहीं होता हूँ तथा वह ज्ञानी भी मुझसे अदृश्य या परोक्ष नहीं होता क्योंकि उसका एवं मेरा स्वरूप एक ही है। इस प्रकार अनेक युक्ति से श्रीकृष्ण समता की प्रतिष्ठा करते हैं। अत: सिद्ध होता है कि गीता मनुष्य के वैयक्तिक एवं सामाजिक पक्ष का सुन्दर समन्वय करती है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता प्राप्ति तथा सामाजिक सुरक्षा का सामञ्जस्य स्थापित करती है। आत्मिकलाभ एवं लोकसंग्रह, भोगवाद एवं कर्मवाद, अकर्मवाद एवं कर्मवाद का परस्पर अन्वय बिठाते हुए निष्काम भाव से कर्म करने पर आत्मिक एवं शारीरिक अभ्युदय की संगति प्रदान करती है। इसलिए गीता भारतीय जागरण में प्रभावी भूमिका निभाती है। विवेकानन्द, तिलक, महात्मा गाँधी, श्री अरविन्द, विनोबा भावे इससे नवीन शक्ति प्राप्त करते हैं। जैन परम्परा के सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चरित्र तथा बौद्धों के प्रज्ञा, शील एवं समाधि भी इसके नैतिक चिन्तन का समर्थन करते हुए दिखते हैं। अत: गीता विश्व का नीतिशास्त्र सिद्ध होता है।

अनुगीता का नैतिक एवं दार्शनिक चिन्तन

युद्ध के बाद श्रीकृष्णार्जुन संवाद में प्राप्त *अनुगीता* विशेषत: मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करती है। अत: साधक को अध्यात्मोन्मुख करने में वेदान्त की युक्तियां ज्ञानमार्ग को सर्वोच्चता प्रदान करने के लिए दी गई है। इसी प्रकार *भागवत महापुराण* की उद्धव गीता में भी श्रीकृष्ण ज्ञानमार्ग एवं अध्यात्म को प्रधानता प्रदान करके पराभक्ति रूपी ज्ञान से नि:श्रेयस की सिद्धि का निरूपण करते हैं। इनमें विवेचित नैतिक चिन्तन एवं दार्शनिक तत्त्वों का साररूप परिचय इस प्रकार है।

यह गीता *महाभारत* के आश्वमेधिक पर्व में अध्याय १६-५१ तक (३६ अध्यायों में) उपलब्ध है। श्लोक संख्या १०४१ है। इस गीता में तीन उपगीताएँ भी हैं— *काश्यप, अम्बरीष* एवं *ब्राह्मणगीता।* महाभारत के युद्ध के पश्चात् श्रीकृष्ण तथा अर्जुन सभा भवन में रहने लगे तब एक बार अर्जुन पूछते हैं कि हे भगवान् युद्ध के समय आपके ईश्वरीय रूप का दर्शन हुआ। आपने जो गीता ज्ञान मुझे दिया अब चित्त विचलित होने के कारण नष्ट (विस्मृत) हो गया है। मुझे पुन: वही ज्ञान सुना दें क्योंकि इधर आप जल्दी ही द्वारका जाने वाले हैं। तब श्रीकृष्ण उल्हाना देते हैं कि उस दिव्य ज्ञान को विस्मृत कर तूने अच्छा नहीं किया, अब वह ज्ञान मैं भी प्रयास करने पर भी पूर्णत: नहीं बता सकूँगा। इस विषय में तुम्हें मैं एक ब्राह्मण का इतिहास कहता हूँ जो स्वर्गलोक से मेरे पास आया। तब मैंने उससे मोक्षधर्म के विषय में पूछा तब उसने काश्यप ब्राह्मण का प्रसङ्ग सुनाया। दिव्य योगी काश्यप ने आकाश में स्थित सिद्ध ब्राह्मण से कुछ प्रश्न किये, जीव की गति के विषय में। जीव के गर्भ प्रवेश, आचार, धर्म, कर्म फल की अनिवार्यता के साथ संसार सागर से तरने का उपाय भी पूछा तब सिद्ध ने इन सबके उत्तर दिये तथा मोक्ष प्राप्ति के उपाय भी बताये। इस प्रकार के विवेचन के साथ चार अध्यायों में यह काश्यप नामक उपगीता पूर्ण होती है।

तत्पश्चात् बीसवें अध्याय से *ब्राह्मणगीता* का प्रारम्भ होता है जिसमें एक ज्ञानयोगी ब्राह्मण से उसकी पत्नी संवाद करती है कि आप कुछ भी नहीं करते हैं, केवल एक पेड़ के नीचे बैठकर ध्यान लगाते हैं। तब ब्राह्मण ने (१६ अध्यायों में ब्राह्मण गीता में) मोक्ष के आधारभूत ज्ञान मार्ग की साधना को स्पष्ट किया। सब यज्ञों में श्रेष्ठ ज्ञानयज्ञ को माना गया है जो इन्द्रियों के द्वारा सम्पन्न होता है। अनेक रूपकों एवं कथाओं के माध्यम से ब्राह्मण ने गुह्य आध्यात्मिक ज्ञान स्पष्ट किया है। मध्य में प्रसङ्गवश परशुराम एवं जनक की कथा भी आई है। ब्राह्मण ने ज्ञाननिष्ठता को सिद्ध किया है। अन्त में श्रीकृष्ण ब्राह्मण, ब्राह्मणी एवं क्षेत्रज्ञ का आध्यात्मिक रहस्य स्पष्ट करते हैं। यह *ब्राह्मणगीता* आकार में कुछ छोटी ही है, पर इसमें उच्चस्तरीय अध्यात्म का विवेचन बड़ी बोधगम्य शैली में किया गया है। इसमें आरम्भ में ही यह कह दिया है कि सामग्री, समिधा, घृत, सोम आदि से यज्ञ, हवन करना भी कर्म ही है, पर इस कर्म को राक्षस नष्ट करते रहते हैं। इसलिये सर्वोत्तम धर्म कर्त्तव्य आत्मा का ध्यान करना ही है। इस ज्ञान-यज्ञ में पाँचों इन्द्रियाँ तथा मन और बुद्धि को ही अग्नि की सात जिह्वाएँ मानकर यज्ञ-कर्म की व्याख्या की गई है। इसमें स्पष्ट किया गया है कि, ''सूँघने वाला,

भक्षण करने वाला, देखने वाला, स्पर्श करने वाला, सुनने वाला, मनन करने वाला और समझने वाला—यह सातों इन्द्रियाँ श्रेष्ठ ऋत्विज हैं। ये सातों होता सात हविष्यों का, सात रूपों में विभाजित चिदग्नि वैश्वानर में भली प्रकार से हवन करके, अपने तन्मात्रादि योनियों में शब्दादि विषयों की उत्पत्ति करते हैं। पृथ्वी, वायु, आकाश,जल, तेज, मन और बुद्धि—ये ही सात योनियाँ कही गई हैं। इनके सभी गुण हविष्य रूप हैं। वे अग्निजनित गुण में प्रविष्ट होते हैं, तथा वे अन्तःकरण में संस्कार रूप से स्थित रह कर अपनी योनियों में उत्पन्न होते हैं।''

ब्राह्मणगीता में अध्यात्म विषयक समस्या को अनेक प्रकार से बहुत सूक्ष्म रूप में सुलझाया है और कहा है कि ''मैं तो योग रूपी ज्ञान यज्ञ का ही अनुष्ठान किया करता हूँ जिसमें ज्ञानाग्नि को प्रज्ज्वलित किया जाता है। इसमें प्राण वायु को स्तोत्र, अपान को शस्त्र और सर्वस्व-त्याग को ही सर्वोत्तम दक्षिणा समझना चाहिये। अहंकार, मन और बुद्धि—यह तीनों ब्रह्म स्वरूप होकर होता, अध्वर्यु और उद्गाता होते हैं। नारायण को जानने वाले ज्ञानी पुरुष इस ज्ञान योग-यज्ञ को वेदानुकूल बतलाते हैं। वही नारायण इस सम्पूर्ण विश्व का संचालक है। जैसे जल नीचे की ओर बहता है वैसे ही ज्ञानी व्यक्ति उसकी प्रेरणा से ही कार्य किया करता है। यही मोक्ष का सच्चा ज्ञान मार्ग है।'' अध्याय ३१ में अम्बरीषगीता ९ श्लोकों में कही गई है।

ब्राह्मणगीता के बाद भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को मोक्ष धर्म का विस्तृत विवेचन समझाते हैं। ब्रह्माजी के द्वारा उत्पन्न सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण के कार्य तथा फलों का प्रतिपादन करते हैं। त्रिगुणात्मिका प्रकृति के नामों का वर्णन करके उसके स्वरूप को जानने के फल भी बताते हैं। प्रकृति के भेद महत्, अहंकार, पञ्च महाभूत, इन्द्रियाँ आदि के स्वरूप को बतलाकर निवृत्ति मार्ग का उपदेश करते हैं। चराचर प्राणियों के अधिपतियों तथा धर्म के लक्षण को स्पष्ट करते हुए विषयों की अनुभूति, प्रक्रिया तथा क्षेत्रज्ञ की विलक्षणता विवेचित करते हैं। सभी पदार्थों के आदि और अन्त के वर्णन के साथ ज्ञान की नित्यता स्पष्ट करते हैं। अन्तिम भाग में ब्राह्मण आदि वर्णधर्म तथा आश्रम धर्म को स्पष्ट करके मुक्ति के साधनों में, देहरूपी वृक्ष का ज्ञान रूपी खड्ग से काटने का विधान बतलाते हैं तथा विस्तार से आत्मा एवं परमात्मा का स्वरूप प्रतिपादित करते हैं। अन्त में सत्त्व एवं पुरुष के भेद को स्पष्ट करके ज्ञान की सर्वश्रेष्ठता उद्घोषित करते हैं। कर्त्तव्यों में अहिंसा सर्वश्रेष्ठ है। तप, स्वाध्याय, दान आदि साधनों की भी कहीं-कहीं आवश्यकता पड़ती ही है। अन्त में इस अध्यात्मवाद ज्ञान के पूर्णतया आचरण का उपदेश देकर श्रीकृष्ण द्वारका के लिए प्रस्थान करते हैं।

उद्धवगीता का दार्शनिक एवं नैतिक चिन्तन

यह गीता *भागवतपुराण* के एकादश स्कन्ध के अध्याय ७ से २९ तक है। इसमें कुल १०३० श्लोक है। उद्धवजी को जब ज्ञात होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण इस धरातल से शीघ्र प्रयाण करने वाले हैं तो ब्रह्मज्ञान विषयक जिज्ञासा रखते हैं। तब भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धव की समग्र जिज्ञासाओं का समाधान इस दिव्य गीता के माध्यम से किया। यह गीता परमपवित्र भागवत पुराण के दार्शनिक तत्त्वों का सारभूत अंश है। इसमें

सांसारिक वासनाओं को त्याग कर भगवद् भक्ति का उपदेश देते हैं, तब उद्धव कहते है विषयी पुरुष के द्वारा इन्द्रिय निग्रह असम्भव है। संसार त्यागना कोई सहज सम्भव कार्य नहीं है तो भगवान् श्रीकृष्ण अवधूत दत्तात्रेय एवं राजा यदु का संवाद सुनाते हैं। दत्तात्रेय ने वैराग्य के उत्पादक २४ गुरुओं से निर्देश लिये हैं। इन २४ गुरुओं से शिक्षा ग्रहणकर वे अद्‌भुत वैरागी बने। दत्तात्रेय के २४ गुरु हैं—पृथिवी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतङ्ग, भौंरा या मधुमक्खी, हाथी, शहद निकालने वाला, हिरण, मछली, पिङ्गला वेश्या, कुरर पक्षी, बालक, कुमारी कन्या, बाण बनाने वाला, सर्प, मकड़ी और भृङ्गी कीट। इन गुरुओं से उनके सद्‌गुणों की शिक्षा ग्रहण करके ही दतात्रेय में दिव्यज्ञान का उदय हुआ है। शिक्षार्थियों के लिए इन्हीं गुरुओं का आचरण बड़ा शिक्षाप्रद है। इनसे सीखे गये गुण मानव के आध्यात्मिक जीवन के परम उत्थान हेतु परमावश्यक है। भगवान् इस गीता में लौकिक एवं पारलौकिक भोगों की असारता का युक्तिसंगत प्रदर्शन करते हैं। इसमें वासनाबद्ध एवं मुक्त भक्तजनों के स्वरूप का स्पष्टीकरण का वर्णन है। सत्सङ्ग की महिमा तथा निष्काम कर्म की विधि सुस्पष्ट की गई है। हंस रूप में सनकादि को दिये गये उपदेशों का वर्णन है। इस गीता में भक्तियोग की महिमा का विस्तृत शास्त्रीय विवेचन है। साधना के बीच मिलने वाली सिद्धियाँ भक्ति भाव में बाधक बनती है। अत: भक्तों को उनसे दूर ही रहना चाहिये। भगवान् की विभूतियों का विस्तार में प्रतिपादन है। मानव के विशेष धर्म–वर्णाश्रम का भी विवेचन है। प्रसङ्गत: वानप्रस्थ एवं संन्यासी के कर्म भी यहाँ निरूपित किये गये हैं। मानव के सामान्य धर्म यम, नियम आदि का भी शास्त्रीय विवेचन है जो भक्तिमार्ग में पूर्णत: आवश्यक होता है। मोक्ष के साधन स्वरूप ज्ञानयोग, कर्मयोग तथा भक्तियोग का प्रौढ़ शास्त्रीय तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए सिद्ध किया है कि वैराग्यप्रधान साधक ज्ञानमार्ग के, वैराग्य रहित सकाम साधक कर्मयोग के तथा जो न विरक्त है न आसक्त, केवल श्रद्धालु है, वे सब भक्ति के द्वारा ही मोक्ष के अधिकारी बनते हैं। अधिकारियों के भेद से मोक्षमार्ग भी त्रिविध है। विषयभोगानुरागी जन्मजन्मान्तर तक संसार में ही भटकते रहेंगे। इसके बाद सांख्य दर्शन की तत्त्वमीमांसा का विवरण दिया गया है। पुरुष एवं परम पुरुष के स्वरूप का भी निर्णय है। इस गीता में एक तितिक्षु ब्राह्मण का उपाख्यान भी प्रस्तुत हुआ है। अर्थ के कारण पन्द्रह अनर्थ पैदा होते हैं—चोरी, हिंसा, झूठवचन, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, अहंकार, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्द्धा, लम्पटता, जुआ और शराब। अर्थपिपासु धनी ब्राह्मण के सम्पूर्ण धन के नष्ट होने पर उसमें अर्थशून्यताके कारण उत्कट वैराग्य उत्पन्न होता है। चूँकि अर्थ के अनर्थकारक रूप को साक्षात्करके वह वैरागी बनकर प्रभुभक्ति में सर्वात्मना लीन हो जाता है। मौनी बनकर सांसारिक सर्वविध आसक्ति के बिना बहुविध विघ्न बाधाओं से ग्रसित होकर भी मन को पूर्णत: सारतत्त्व भक्ति में लगाता रहा तथा ज्ञान एवं वैराग्य के माध्यम से परमगति को प्राप्त कर लेता है। यहाँ महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि उसके धन के नष्ट होने पर ही उसके सारे क्लेश भी दूर हो गये तथा ब्रह्मज्ञान में वह पूर्णनिष्ठ हो गया। अत: परम ज्ञान की प्राप्ति में धन का कोई महत्त्व सिद्ध नहीं होता है।

इस गीता में सांख्ययोग के अनुसार दार्शनिक विचार, तीन गुणों की वृत्तियों का निरूपण भी किया गया है। उदाहरणार्थ इन्द्रिय कामासक्त पुरुरवा का उर्वशी के लिये विलाप तथा उससे वियोग से वैराग्योत्पत्ति की विशेषता वर्णित है। अन्त में परमज्ञान होने पर वह उर्वशी के वियोगजन्य दु:ख से मुक्त हुआ। उपासनायोग तथा उसकी विधि का सविस्तार वर्णन भक्त के करणीय कर्मों का प्रतिपादन हुआ है। अन्त में परमार्थ एवं भागवत धर्मों का विस्तृत वर्णन है। श्रीकृष्ण से सम्पूर्ण उपदेश प्राप्त कर उद्धव बदरिकाश्रम में जाकर जप, तप आदि का आचरण करने हेतु प्रस्थान करते हैं। इस गीता का सारांश यह है कि विवेकियों के विवेक और चतुरों की चतुराई की पराकाष्ठा इसी में है कि वे अविनाशी और असत्य शरीर के द्वारा अविनाशी, सत्यस्वरूप, भगवान् को प्राप्त कर लेवें।

परमज्ञान की प्राप्ति का ऐसा उच्चस्तरीय प्रामाणिक शास्त्रीय विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है। अत: यह कथन टीक ही है कि 'यह उद्धव गीता रूप ज्ञानामृत आनन्द महासागर का सार है जो श्रद्धा के साथ इसका सेवन करता है वह तो मुक्त हो ही जाता है, उसके सङ्ग से सारा जगत् मुक्त हो जाता है' (२९.४८)। इस गीता के अन्तर्गत पाँच लघु गीताएँ–(पिङ्गलागीता, भिक्षुगीता, अवधूतगीता, ऐलगीता तथा हंसगीता) अन्तर्गर्भित हैं।

इस प्रकार श्रीकृष्ण के नैतिक चिन्तन एवं दर्शन की सार्वभौमिकता एवं सार्वकालिकता सिद्ध होतीहै तथा उनका जगद्गुरुत्व भी निर्विवाद रूप में सिद्ध होता है।

श्रीकृष्ण और कुटिलनीति

श्री कृष्ण ने अनेक स्थलों पर शत्रुनाश के उपाय में कुटिलता का आश्रय लिया है, जो परिस्थितिवश कुटिलनीति के व्यावहारिकपक्ष की आवश्यकता को सुदृढ़ करता है। राजनीति के आचार्य शुक्र ने तो स्पष्टत: श्रीकृष्ण को कूटनीतिक माना है—

न कूटनीतिरभवच्छ्रीकृष्णसदृशो नृप:।
अर्जुनं ग्राहिता स्वस्य सुभद्रा भगिनी छलात्।। (*शुक्रनीति* ५.५४)

वस्तुत: श्री कृष्ण के समान कपटी कोई नहीं हुआ जिसने अपनी भगिनी सुभद्रा को छल से अर्जुनके लिए ग्रहण करवा दी। वस्तुत: राजनीति के चार उपायों—साम, दान, भेद तथा दण्ड में सोपानिक क्रम है। प्रथम उपाय से कार्य के असिद्ध होने पर द्वितीय को अपनाना चाहिए, दूसरे के असिद्ध होने पर तीसरे को तथा तीसरे के असिद्ध होने पर चौथाउपाय करना चाहिए क्योंकि इन उपायों में दोष क्रमश: बढ़ता जाता है। इन चारों उपायों की असिद्धि होने पर युद्ध करना चाहिए जिसमें कुटिलनीति पूर्णत: धर्मसम्मत स्वीकार्य हो जाती है। वैशम्पायन का यही आशय प्रतीत होता है—

साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक्।
साधितुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन।।

शत्रु के नाश हेतु जब युद्ध के अलावा कोई विकल्प नहीं हो तब सभी कुटिल उपायों का भी प्रयोग न्याय्य हो जाता है। स्वयं भगवान् का चरित इस बात का साक्षी है। त्रिविक्रम जब वामन का कपटी रूप धारण करते हैं, शूकर भी बन जाते हैं तथा नृसिंह भी बनते हैं, इनसे सिद्ध होता है अन्तिम उपाय के रूप में निन्दनीय उपायों को भी धारण करना चाहिए—

त्रिविक्रमोऽभूदपि वामनोऽसौ सशूकरश्चेति स वै नृसिंहः।
नीचैरनीचैरतिनीचनीचैः सर्वैरुपायैः फलमेव साध्यम्।।

(*नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण में उद्धृत*, पृ. ५९)

अतः कुटिल नीति की भी युद्ध आदि विशेष परिस्थिति में प्रासङ्गिकता सिद्ध होती है। महाभारत के युद्ध में भीष्म, द्रोणाचार्य, कर्ण,कीचक तथा दुर्योधन, जयद्रथ आदि के वध में कूटनीति का प्रयोग हुआ है। राम ने बालि वध में कूटनीति का प्रयोग किया है। इस प्रकार श्रीकृष्ण भी धर्म संस्थापनार्थ इस कुटिल नीति के आश्रय लेने से इसके समर्थक माने जा सकते हैं।

श्रीकृष्ण का दर्शन एवं नैतिक चिन्तन सर्वदा मानवमात्र के लिए उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण है। दुष्टों के नाश में कूटनीति का प्रयोग भी व्यावहारिक दृष्टि से सर्वोत्तम उपाय है। वैदिक दर्शन के सभी सारभूत तत्त्वों का सुसंयोजित एवं सयुक्तिक प्रस्तुत कर विश्व के मानवीय जगत् के समक्ष एक अद्वितीय, विलक्षण, नैतिक एवं दार्शनिक योगदान करके श्रीकृष्ण ने वैदिक दिव्य ज्ञान की मूर्धन्यता सुप्रतिष्ठित की है तथा धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र की धरा को महागौरव से मण्डित किया है।

दर्शनशास्त्र विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

श्रीविद्यासाधना पीठ, वाराणसी का परिचय

श्री दत्तात्रेयानन्दनाथ जी (सीताराम कविराज) ने सन् १९९६ ई. में श्रीविद्या मन्त्रयोग द्वारा भगवती पराम्बा ललितामहात्रिपुरसुन्दरी की उपासना तथा श्रीविद्या परम्परा के संरक्षण, संवर्धन एवं प्रसार के लिए श्रीविद्या साधना पीठ की स्थापना की। भारतवर्ष में अपने प्रकार की अद्वितीय इस संस्था की स्थापना स्वामीकरपात्री जी महाराज के द्वारा उत्तर भारत में लुप्तप्राय श्रीविद्या उपासना को पुनरुज्जीवित व समृद्ध करने के उद्देश्य से की।

संस्था का भवन

वाराणसी में नगवा क्षेत्र में गङ्गाजी के सुरम्य तट के निकट ही अत्यन्त प्रशस्त और शान्त स्थल में नवनिर्मित चार मंजिल के भवन में यह आश्रम प्रतिष्ठित है। इसमें दो विशाल सभाकक्ष एवं तेरह कक्ष हैं, जिनमें यज्ञमण्डप, अर्चनकक्ष, ग्रन्थालय, शिक्षा एवं अनुसन्धान प्रकाशन विभाग एवं अतिथि कक्ष आदि स्थित हैं।

श्रीविद्या साधना पीठ के अङ्ग विभाग एवं गतिविधियाँ

उपासना, अनुसन्धान एवं शिक्षण, (अध्यापन एवं छात्रावास सहित), प्रकाशन, ग्रन्थालय, साधक प्रशिक्षण/साधकावास एवं अतिथिकक्ष।

साधना पीठ में निगमागम शास्त्रों द्वारा विहित उपासना यथाविधि नियमित रूप से सम्पन्न होती है। दीक्षित साधक/साधिकायें पारम्परिक आचार्य के निर्देशन में यह साधना सम्पन्न कर रहे हैं।

शिक्षण विभाग में छात्रों को सुयोग्य विद्वानों द्वारा वेदशास्त्र का नियमित अध्ययन कराया जाता है एवं उन्हें आगमतन्त्र का सामान्य रूप से तथा श्रीविद्या का विशेष रूप से प्रशिक्षण भी दिया जाता है।

श्रीविद्या-साधकों के पथप्रदर्शन, श्रीविद्यायन्त्रार्चन पद्धति के प्रशिक्षण आदि के साथ-साथ श्रीविद्या से सम्बन्धित दुर्लभ वाङ्मय का प्रकाशन, श्रीविद्यासाधकों की सेवा, सहयोग एवं मार्गदर्शन के लिए पीठ के द्वार सदा उद्घाटित है। श्रीविद्या से सम्बन्धित दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशन क्रम में *श्रीविद्यारत्नाकर*, *श्रीविद्यावरिवस्या* (पूजापद्धति), *भक्तिसुधा*, *भुवनेश्वरीवरिवस्या*, *साम्बपञ्चाशिका* (हिन्दी व्याख्या) *विरूपाक्षपञ्चशिका* (हिन्दी व्याख्या), *श्रीललितासहस्रनाम स्तोत्र*, *श्रीमहागणपतिवरिवस्या*, *उपचारमीमांसा* आदि के अनन्तर साङ्गोपाङ्ग श्रीविद्योपासना का अपरिमेय सागर ***श्रीविद्यार्णवतन्त्र*** (भाग १-२) हिन्दी भावविवृति सहित सुलभ है।

साधनापीठ में करपात्र स्वामी स्मृति संग्रहालय है, जिसमें आगम के ग्रन्थों का एक ग्रन्थागार है इसमें आगम पर देश और विदेशों में प्रकाशित ग्रन्थों, आगम-तन्त्र की पाण्डुलिपियों का सङ्ग्रह आरम्भ कर अप्रकाशित ग्रन्थों का प्रकाशन भी आरम्भ किया जा रहा है।

पूज्य गुरुदेव दत्तात्रेयानन्दनाथ जी द्वारा श्रीविद्यासाधना पीठ के सम्मुख भव्य उपासना मण्डप एवं श्रीविद्यासाधना की प्रधान अङ्गभूत अनुत्तराम्नायअधिष्ठात्री श्री शाङ्करी देवी ललिता महात्रिपुरसुन्दरी की भव्य प्रतिमा एवं श्रीयन्त्र की स्थापना भी की गयी है, जहाँ प्रतिदिन श्रीयन्त्र की महापूजा होती है।

शिक्षण/प्रशिक्षण

साधनापीठ में इस समय १० छात्र भोजन एवं आवास की सुविधा के साथ नि:शुल्क शिक्षण एवं साधना का प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे हैं।

उपर्युक्त सुविधाओं के साथ ही नियमित छात्रवृत्ति एवं छात्रों की शिक्षा पूरी होने पर उनके नाम जमा की गयी एक निश्चित धनराशि देने का भी प्रावधान किया गया है।

अनुसन्धान एवं प्रकाशन

साधनापीठ अपने अनुसन्धान एवं प्रकाशन के कार्यक्रम का और विस्तार करेगा और श्रीविद्या के विभिन्न क्षेत्रों में तथा सामान्यत: आगमतन्त्र के रहस्यों को साधकों तक उपलब्ध कराने हेतु षणमासिकी पत्रिका *श्रीविद्यामन्त्रमहायोग* का नियमित प्रकाशन किया जा रहा है।

साधना

साधना के क्षेत्र में देश और विदेश के जिज्ञासु साधकों को समुचित निर्देश और प्रशिक्षण प्रदान करने के लिए आवश्यक तन्त्र का विस्तार किया जा रहा है।

श्रीविद्यासाधनापीठ, वाराणसी के द्वारा प्रकाशित ग्रन्थों की सूची

		मूल्यम्
श्रीविद्यारत्नाकर:	षोडशानन्दनाथश्रीकरपात्रस्वामिरचित	400
श्रीविद्यावरिवस्या	षोडशानन्दनाथश्रीकरपात्रस्वामिरचित	200
श्रीमहागणपतिवरिवस्या	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचिता	60
श्रीभुवनेश्वरीवरिवस्या	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचिता	50
श्रीललितासहस्रनामस्तोत्रम्	दत्तात्रेयानन्दनाथ–सम्पादित	20
उपचारमीमांसा	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचिता	50
मन्त्रमहायोग	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचित	20
श्रीविद्या एवं श्रीयन्त्र एक परिचय	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचित	20
श्रीविद्यार्णवतन्त्रम् (प्रथम एवं द्वितीय भाग) हिन्दी वृत्ति	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचिता	1800
श्रीविद्यापञ्चरत्नम्	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचितम्	–
तान्त्रिकम् अष्टाङ्गम्	दत्तात्रेयानन्दनाथविरचितम्	–

आगमतन्त्र की षाण्मासिक शोध पत्रिका

1. श्रीविद्यावार्ता – स्मारिका 1999–2001	125
2. श्रीविद्यावार्ता – (अमृतमहोत्सव विशेषाङ्क) 2002–2003	125
3. श्रीविद्या – 2008–2009	125
4. श्रीविद्या – 2010–2011	125
5. श्रीविद्यामन्त्रमहायोग – वर्ष प्रथम अङ्क प्रथम, अगस्त 2011	125
6. श्रीविद्यामन्त्रमहायोग – वर्ष प्रथम अङ्क द्वितीय, फरवरी 2012	125
7. श्रीविद्यामन्त्रमहायोग – वर्ष द्वितीय अङ्क प्रथम, अगस्त 2012	125
8. श्रीविद्यामन्त्रमहायोग – वर्ष द्वितीय अङ्क द्वितीय, फरवरी 2013	125
9. श्रीविद्यामन्त्रमहायोग – वर्ष तृतीय अङ्क प्रथम, अगस्त 2013	125